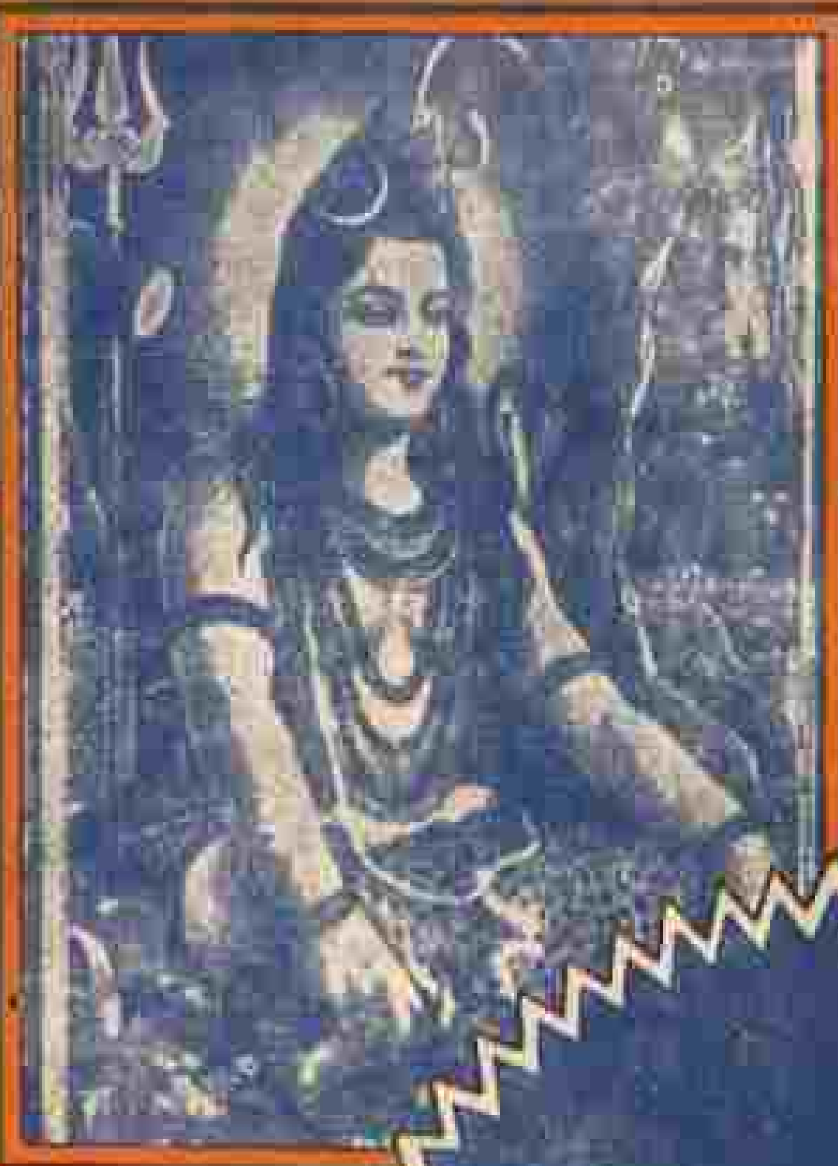

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष - १७

अंक - [illegible]

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन सवाई आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

- परोपकाराय सतां विभूतयः — १
- योग में श्रद्धा का स्थान — २
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- गीता और गंगा का मर्म — ६
  वेदतीर्थ श्री नरदेव शास्त्री
- श्री प्रभु-कृपा प्रसाद का चमत्कार — ११
  श्री रामेश्वर दत्त शर्मा
- 'मंगलं परमौषधम्' — १४
  श्री विष्णुदेव बी० ए०
- मानसिक सदाचार — १६
  श्री परिपूर्णानन्द जी वर्मा
- योग की द्वादश भूमिकाएँ — १९
  श्री बालकोबा भावे
- महल से खंडहर तक — २०
- मुझको निखार दो—(कविता) — २१
  श्री सन्तोष कुमार गौड़
- पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् — २३
  योगपद्धति के उपयोगी अंग
- जीवन और जीवनालोक — २४
  आचार्य विनोबा भावे
- योग का प्रथम सोपान — २७
  श्री चन्द्रनारायण दीवान
- लक्ष्मी कहाँ रहती है ? — २९
  श्रीमती डा० राजकुमारी मिश्रा
- कैंसर (अर्बुद) की चिकित्सा — ३६
  श्री रामस्वरूप शास्त्री आयुर्वेदाचार्य
- रामायण और योग — ३८
  ब्रह्मचारी श्री सत्येन्द्र
- सुरेश गुरुदेव — ४०
  श्री केशव उपाध्याय
- योग का स्वरूप — ४३
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
- संघर्षशील जीवन एवं योग — ४६
  एक साधक

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
फरवरी १९८५

वार्षिक मूल्य २४ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, समाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १७
अङ्क ११

ध्यायं ध्यायं हृदि परमं ब्रह्म भूत स्वभावम्,
[illegible]
[illegible]
[illegible] 'सिद्धयोग' ॥

फरवरी
१९८५

❀ परोपकाराय सतां विभूतयः ❀

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नोदकं ।
फलानि खादन्ति स्वयं न वृक्षाः ॥
धारा-धरो वर्षति नात्महेतवे ।
परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

अर्थात्

नदियाँ अपने जल को स्वयं नहीं पीतीं। वृक्ष भी अपने फलों को स्वयं नहीं खाते। मेघ को बरसने वाला जल भी उसके अपने किसी स्वार्थ के लिए नहीं होता। अपितु यह सब अथवा संसार की अन्य सब विभूतियाँ दूसरों के भले के लिए यानी परोपकार के लिए ही अपना अस्तित्व रखती हैं।

अतएव संसार की यह सब प्रकृति प्रदत्त जड़ विभूतियाँ जब दूसरे के उपकार के लिए नियन्ता के आदेश से निरन्तर गतिशील रहती हैं तब चेतन पुरुष का भी यह धर्म है कि वह भी अपना जीवन दूसरों की भलाई और सेवा में व्यतीत करता रहे।

हमारा विशेष लेख—

योग में श्रद्धा का स्थान

ले० योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव ने योग में प्रगति पाने के लिए दो खास उपायों का निर्देशन किया है उनमें से एक उपाय भव प्रत्यय कहलाता है। भव प्रत्यय का अर्थ है कि योगी को अपना अभ्यास बढ़ाने के लिए किसी भी प्रकार के उपयोगी साधन कौशल ज्ञान की आवश्यकता नहीं रहती प्रत्युत उनका जन्म लेना ही उनकी साधना का एक आधार स्तम्भ हुआ करता है। ज्यों ही ऐसे व्यक्ति जन्म लेते हैं त्यों ही पौर्वदेहिक बुद्धिसंयोग को पाकर उनकी साधनाएँ चलने लगती हैं और वे लोग शनैः शनैः अभ्यास करते हुए आत्म-साक्षात्कार रूप अपने परम लक्ष्य को पा लिया करते हैं किन्तु इनके अतिरिक्त अन्य सभी योगाभ्यासियों के लिए उपाय प्रत्यय का वर्णन किया गया है। उपाय प्रत्यय का अर्थ है कि प्रयत्न विशेष के साथ समाधि स्थिति को प्राप्त करना। इनमें से भी श्रद्धाभाव का स्थान सर्वोच्च है। आनन्दकन्द अखिलात्मा भगवान कृष्ण का अपनी श्रीमद्भगवत गीता में श्रद्धा की उत्पत्ति आधार सतोगुण का बतलाया है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

अर्थात् जिस व्यक्ति के मन में जितना अधिक सतोगुण का उदय हो जावेगा उतना ही अधिक उसके मन में श्रद्धा का भी उदय हो जाएगा। क्योंकि प्रख्या प्रवृत्ति स्थितिशील होने से चित्त को त्रिगुणात्मक माना है। चित्त के विभाग अलहदा अलहदा बने रहते हैं। यदि प्रख्या रूप चित्त सत् रजोगुण तमोगुण से मिला रहता है तो उसकी प्रवृत्ति सांसारिक ऐश्वर्यों को प्राप्त करने में लगी रहती है और कदाचित वही प्रख्या रूप चित्तसत् तमोगुण का अवलम्ब लेता है तो अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य में फँसा रहता है और ज्यों ही वह प्रख्या रूप चित्तसत् विशुद्ध चमकता हुआ होने पर अतिरिक्त रजोगुण की मात्रा से अनु-

सिद्ध रहता है तो धर्म ज्ञान और वैराग्य एवं ऐश्वर्य आदि को चाहने वाला हुआ करता है और निरन्तर अभ्यास करते-करते जब रजोगुण की मात्रा भी वहां से समाप्त हो जाती है तब प्रकृति और पुरुष के भेद ज्ञान को समझ कर धर्म मेघ समाधि को धारण करने वाला होता है। क्योंकि चितशक्ति (अर्थात् जीवात्मा) अपरिणामिनी है। अतः जिस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता केवल मात्र बुद्धि व योगों के कारण चलित दिखता है। चूंकि यह अपरिणामिनी होने के कारण परम शुद्ध एवं अनन्त है जब योगी का ध्यान इस चित्तस्थ परम ब्रह्म को धारण करता है तो यह योग के परमलक्ष्य को प्राप्त कराने में फलीभूत अपनी श्रद्धा का उपाय प्रत्यय का अवलम्ब लेता है। उपाय प्रत्यय का अवलम्ब लेने वाले योगियों के लिये भगवान पतञ्जलि ने निम्न प्रकार से निर्देश किया है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-
प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् उपाय प्रत्यय अवलम्ब लेने वाले योगियों के लिए श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, एवं प्रज्ञा यह क्रम रहता है इसको श्री व्यास देव जी ने अपना भाष्य लिखते हुवे इस सूत्र का जो अर्थ समझाया है वह इस प्रकार है—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः संप्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथार्थं वस्तु जानाति, तदभ्यासात्तद्विषयाच्च वैराग्याद् असंप्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् उपाय प्रत्यय के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति प्रयत्नशील योगियों को हुआ करती है। श्रद्धा चित्त का एक बहुत बड़ा प्रसाद है। श्रद्धा परम कल्याण के देने वाली जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा किया करती है। जो योगी विवेक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए दृढ़ श्रद्धा वाला होकर के अपने प्रयत्न में लगा रहता है उसकी श्रद्धा उत्तरोत्तर बल पाकर के दृढ़ता को पाती चली जाती है। जब इस योगी के मन में पूरी-पूरी दृढ़ता बढ़ती चली जाती है तो स्मृति का उपस्थान हो जाया करता है जिस योगी को स्मृत्युपस्थान हो जाता है उसका चित्त चारों ओर से समाहित हो जाता है और ऐसा योगी बहुत जल्दी प्रज्ञाविवेक को पा लेता है। जिससे वह वस्तुतत्व की यथार्थता का ज्ञाता हो जाता है। यहां तक का यह विषय सम्प्रज्ञात समाधि का

विषय है वह इस समाधि में पोथी-अध्ययन का प्रश्न ही आता है। अब उस ने इस विषय में भी भेद पड़ जाता है। फिर वह पूर्ण जितेन्द्रिय होकर अपने अभ्यास को जारी रखकर और बढ़ता चला जाता है तब वह योग की पराकाष्ठा पर असम्प्रज्ञात समाधि को पा लेता है। सम्प्रज्ञात योग में वह भिन्न-भिन्न विषयों का द्रष्टा रहता है असम्प्रज्ञात योग के अभ्यास से उन्हीं सभी से वह पूर्ण विरक्त हो जाता है तब उसका इस लोक और परलोक के सांसारिक सुखों से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु यह सभी साधनायें जितेन्द्रिय साधक पर ही आधारित रहती हैं। आजकल के समाज में प्रायः सभी लोग इस प्रकार के प्रश्न किया करते हैं कि समान स्थिति क्यों नहीं होती। उसमें मैं यह समझा देना चाहता हूं कि अधिकार भेद सामने रहता है। प्रकृति स्वभाव तीन गुण है और उनका इतना अधिक व्यवहार है कि सारे संसार के किन्हीं भी प्राणियों का स्वभाव नहीं मिलता। योग के जिज्ञासु अधिकारियों में भी यह तारतम्य बराबर चलता है। विशेष रूप से भगवान पतञ्जलिदेव ने योगियों के भी भेद विभिन्न रूप से माने हैं। साधना करने वाले व्यक्तियों में ऊपर लिखे गये सिद्धान्तों के अनुसार तो सभी के अन्दर तो परमात्मतत्त्व है ही किन्तु उसके साथ-साथ यह भी देखना जरूरी हो जायगा कि साधना करने वाला व्यक्ति कितने उत्साह एवं लगन वाला है। उसके ये संवेगात्मक स्वभाव भेद अभ्यासी योगियों के जो भेद इस प्रकार से हैं। मृदु संवेग और उसके साथ मृदु उपाय दूसरा मध्य संवेग और मृदु उपाय तीसरा तीव्र संवेग और मृदु उपाय—इस प्रकार भेद तीन प्रकार के हो गये उसी तरह मध्यसंवेग एवं मृदु उपाय मध्यसंवेग मध्यउपाय मध्यसंवेग एवं अधिमात्र उपाय। इस प्रकार भेद और हो गए। उसके बाद तीव्र संवेग एवं मृदु उपाय तीव्र संवेग एवं मध्यउपाय तीव्र संवेग एवं अधिमात्र उपाय। इस प्रकार से यह नौ भेद हो गये। भगवान पतञ्जलिदेव का कहना है कि—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ समाधिलाभः समाधि फलं च भवतीति ॥

अर्थात् जो व्यक्ति तेज लगन वाले हैं और उनको साधन भी समुचित रूप से उत्तम साधन मिल गये हैं। वह लोग प्रयत्न करके जल्दी से जल्दी समाधि स्थिति को पा जाया करते हैं किन्तु खूब गहरी लगन होने पर भी और उत्तमोत्तम साधन उपलब्ध हो जाने पर भी किसी भी साधक को जब तक तीव्र निरन्तर तप और ब्रह्मचर्य के साथ उसका संयम नहीं करेगा तब तक वह अभ्यास इस भूमि का दाता नहीं बनेगा। भगवान [illegible] का कहना है कि—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

अर्थात् जो अभ्यास लम्बे समय तक लगातार आदर पूर्वक सेवन किया जायेगा वही दृढभूमि हो सकेगा । जो अभ्यास परिपक्व हो जायगा वह अडिग होगा । इसलिए साधक को चाहिये कि वह अपने अभ्यास को परिपक्व करने के लिये तत्परता जितेन्द्रियता का भी पूर्ण रूपेण पालन करे । अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता के अठारहवें अध्याय में आदेश किया है कि—

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः । ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः । अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् । विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।

अर्थात् अभ्यासी साधक को चाहिये एकान्त में रहकर हल्का भोजन करते हुए मन वाणी और शरीर पर नियन्त्रण रखते हुये एवं अपने मन में पूर्ण वैराग्य भावनाओं को दृढ करके काम-क्रोध-बल-घमण्ड एवं अहङ्कार का पूर्ण रूपेण त्याग करके अपने आपको ब्रह्ममय बनाले । तब वह उपाय प्राप्त करता योगी उपरोक्त नियमों का पालन करता हुआ श्रद्धा के समुचित फल दृढ़ता संलग्नता के साथ स्मृत्युत्थान को पाकर प्रज्ञा विवेक एवं संप्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच कर संभावना का आत्मा बन जाया करता है आजकल कलिकाल के समय में योग के उपदेष्टा अपनी-अपनी मतभेद के कारण विभिन्न प्रकार के प्रभाव सिद्धान्त रहित किया करते हैं जिससे साधक अभ्यास के अतिरिक्त वासना के गर्त में डूबा रहा करता है । हमारे पूर्वजों ने तो यहाँ तक आदेश दिया है कि—साधक के मन में वासना की भावना भी पैदा न हो । भगवान श्रीकृष्ण स्वयं निर्देश करते हैं कि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।

अर्थात् जो मनुष्य मन में विषयों का चिन्तन भी कर लेता है तो धीरे-धीरे उसकी वह मानसिक प्रवृत्ति पूर्ण रूपेण दृढ हो जाती है और वासनिक प्रवृत्ति के दृढ हो जाने पर चाही हुई वस्तु नहीं मिल पाती तो मन में क्रोध पैदा हो जाता है एवं क्रोध-रोग हो जाने के बाद स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश एवं अन्त में प्रणश्यति की दशा को पाकर नष्ट भ्रष्ट हो जाता है । इसलिए साधक को चाहिए कि इस लेख में लिखे हुये उपरोक्त नियमों को भली प्रकार समझकर अभ्यास की दृढ़ता को बढ़ाए तभी कल्याण के आदि स्रोत को प्राप्त कर सकेगा । शेष शुभ ॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः

सर्वे सन्तु निरामया ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु

मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

००

गुरुकृपा:-एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण

श्री कपिलदेव उपाध्याय, बी० एस० सी०

गुरु कृपा को समझने के लिए एक साधारण से वैज्ञानिक तथ्य का सहारा लिया पड़ता है। हालांकि यह बात सर्वमान्य ठीक है कि विज्ञान की आज तक की उपलब्धि भी अभी तक योग की उपलब्धि से भी कम है।

आज के युग में रेडियो से सभी लोग परिचित हैं पर यह रेडियो बजता कैसे है इस तथ्य को सभी लोग नहीं समझ पाते। पहले इस तथ्य पर थोड़ा सा प्रकाश डाल देना उचित समझता हूँ। अगर एक तांबे के लपेटे हुये तार (Coil) तथा एक विद्युत धारक Condenser को लेकर एक विद्युत सर्किट का निर्माण किया जाय तथा इसके अन्दर विद्युत तरंग को दौड़ाया जाय तो एक बड़ी ही मनोहर घटना घटती है जब विद्युत क्वायल से होकर गुजरती है तो क्वायल से जुड़ा हुआ कन्डेन्सर विद्युत शक्ति से भरने लगता है तथा साथ ही साथ क्वायल अपने धर्म के अनुसार एक उल्टी दिशा में विद्युत तरंग उत्पन्न करने लगता है जिसे (Eddy) एडिकरेन्ट कहते हैं। धीरे-धीरे इस एडिकरेन्ट की मात्रा सर्किट में प्रवाहित करेन्ट की मात्रा से अधिक हो जाती है और करेन्ट उल्टी दिशा में बहने लगता है अब कन्डेन्सर की पहली वाली प्लेट से विद्युत निकलती है तथा दूसरी वाली में जमा होने लगती है और कुछ देर के बाद एडि करेन्ट की दिशा में परिवर्तन हो जाता है यह क्रिया बार-बार होने से परिणाम स्वरूप सर्किट में करेन्ट की एक तरंग उठने लगती है।

इस तरंग की अपनी लहर तथा कम्पन होती है जिसकी मात्रा को कन्डेन्सर की क्षमता को बढ़ाकर या घटाकर कम या अधिक किया जा सकता है अगर इस सर्किट के पास किसी दूसरी क्वायल जिसका सम्बन्ध रेडियो के एरियल के साथ हो, लाया जाय जिसमें सारे रेडियो स्टेशनों की तरंगें आकर टकराती हैं तो सिर्फ उसी स्टेशन की तरंग रेडियो यन्त्र में आ पायेगी जिसकी लहर तथा कम्पन भीतर वाली सर्किट की लहर तथा तरंग के समान होगी और वह हमारे यन्त्र में बजने लगेगा। इस समान की घटना को विज्ञान रेजोनेन्स कहता है। और बाकी तरंगें तो एरियल में ही रह जाती हैं।

इस रेजोनेन्स की क्रिया को और अधिक

स्पष्ट करने के लिये एक और उदाहरण देकर अपनी बात शुरू करूँगा। सिनेमा में नायक की भूमिका जो कर रहा है उसके ऊपर अगर खूब अत्याचार हो रहा हो तथा वह फूट-फूट कर रो रहा हो तो ऐसा देखने में आता है कि हाल में बैठे हुये कुछ दर्शक भी रोने लगते हैं जबकि बाकी लोग नहीं रोते। ऐसी हालत में यह कहा जा सकता है कि रोने वाला व्यक्ति नायक के साथ एक ही रेजोनेन्स में है। गिरगिट तथा मेढक जिस वातावरण में रहते हैं उनके शरीर का रंग वैसा ही हो जाता है या वे बदल लेते हैं यह भी रेजोनेन्स क्रिया को ही व्यक्त करता है।

अब बात आती है गुरु कृपा की। गुरु है क्या? मेरा तो अपना विचार यह है कि ईश्वर का स्थूल रूप गुरु होते हैं और गुरु का सूक्ष्म रूप ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर या गुरु की कृपा सभी पर सब समय प्रवाहित होती रहती है। लेकिन हम अपने को उसके साथ रेजोनेन्स में नहीं ला पाते हैं। और उससे वंचित रह जाते हैं। इस शरीर को रेजोनेन्स में लाने की कला ही गुरु मुख से दीक्षा के रूप में हमें प्राप्त होती है।

मूल रूप में विज्ञान की यह क्रिया ही सारे धर्मों में ही है। पैगम्बर साहब ने पहाड़ पर जो खुदा की वाणी सुनी थी वह यही थी। क्योंकि उस समय उस प्रभु की सारी विलक्षणतायें शरीर में प्रकट होने लगती हैं, और मन आनन्द में विभोर बना रहता है। जिसका वर्णन विभिन्न भक्तों तथा मनीषियों ने विभिन्न रूपों में किया है। मीरा ने इसी स्थिति की ओर संकेत करके गायी है "पायो जी मैंने राम रतन धन पायो" भक्त कवि तुलसीदास ने भी इसी की पुष्टि की है "कबहुँक हौं यह रहनि रहौंगो।" उनका यह पद किस 'रहनि' की ओर संकेत कर रहा है।

कुछ मुसलमान शायरों ने भी इसी स्थिति को बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। मीर की 'मीर' ने एक शेर लिखा है—

तुम मेरे पास होते हो गोया।
जब कोई दूसरा नहीं होता॥

बहुत दिनों तक यह दूसरा शब्द मुझे खटकता था और मैं इस शेर को कुछ इस ढंग से पढ़ता था—

तुम मेरे पास होते हो मीया।
जब कोई तीसरा नहीं होता॥

पर आज समझ रहा हूँ कि यह तो अन्तरात्म की ऊँची स्थिति की बात कह रहे हैं जब हम उसके साथ एकदम रेजोनेन्स में होते हैं।

एक और सज्जन लिखते हैं कि—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार।
जब जरा गर्दन झुकाई देखली॥

शरीर को रेजोनेन्स में लाने की एक प्रक्रिया का वर्णन तो यही है। क्योंकि ध्यान

ही उसकी प्रतिमा है और ध्यान हृदय में भी लिया जाता है। भक्त शिरोमणि हनुमान ने हृदय को चीरकर जो राम और सीता को दिखाया था क्योंकि वास्तवों मुद्रा में ठोड़ी को कण्ठ से लगा लेते हैं जिसे शब्द: सुगमता भी कह सकते हैं।

हिन्दी की महान कवियित्रि महादेवी वर्माजी ने भी इसी को व्यक्त किया है—

क्या पूजा क्या अर्चन रे
प्रिय-प्रिय जिसके अधर ताल देता
पलकों का नर्तन रे

जो हमेशा ही अपने परम आराध्य के ध्यान में डूबा रहता है अर्थात् हमेशा ही रेजोनेन्स में बना रहता है उसके सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

ऐसा देखने में आता है कि एक ही गुरु के शिष्यों में कुछ द्वेष या ईर्ष्या की भावना होती है जो कि निराधार है एक ही तरह की दो रेडियो दो पड़ोसियों के पास है एक में स्टेशन ठीक पकड़ता है दूसरे में नहीं तो उसके लिये वे आपस में किसी तरह का तनाव तो पैदा नहीं करते क्योंकि वे इस तथ्य को समझते हैं कि हमारे रेडियो में ही कुछ खराबी है न कि रेडियो स्टेशन में। गुरु कृपा के बारे में भी हमारा दृष्टिकोण ऐसा ही होना चाहिये।

इसी प्रसंग में एक बात याद आती है। जगत गुरु शंकराचार्य अपने विद्वान् शिष्यों के साथ बैठे हुये थे। उस दिन ब्रह्मविद्या के किसी गूढ़ तत्व की व्याख्या करनी थी। लेकिन बहुत देर तक बैठे रहनेपर भी जब वे नहीं बोले तो एक शिष्य ने कहा गुरुदेव अब शुरू करें। गुरुजी बोले थोड़ा ठहर जाओ। पद्मपाद कपड़े धोने गया है वह आ जाय। इस पर बैठे हुये सभी शिष्यों को आश्चर्य हुआ वह तो अशिक्षित है वह क्या समझ पायेगा। कुछ देर के बाद वह गुरु के चरणों में आकर बैठा और गुरुदेव ने प्रवचन आरम्भ किया। उसमें कठिन से कठिन संस्कृत के श्लोक भी थे। जब प्रवचन समाप्त हुआ तो गुरुदेव ने सभी शिष्यों से पूछा कि मैंने क्या कहा पर कोई भी सही ढंग से व्यक्त नहीं कर सका। अन्त में पद्मपाद की बारी आया। जब गुरुदेव ने उससे पूछा तो उसने गुरुदेव के मुख से निकले सारे शब्दों को ज्यों का त्यों दुहरा दिया। सभी पण्डितों को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। यह घटना सत्य है यह है गुरु के साथ रेजोनेन्स में रहने का विज्ञान।

इस प्रकार जो व्यक्ति चलते फिरते सोते बैठते खाते-पीते सब समय अपने इष्टदेव के ध्यान में ही डूबा रहता है वह बहुत जल्दी ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है, स्वयं गुरुदेव के मुख से सुन चुका हूँ कि महाभारत की लड़ाई समाप्त होने के बाद अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पुनः गीता सुनाने का आग्रह किया पर भगवान बोले वह तो मुझे भी अब याद नहीं रहा उस समय तो मैंने योगयुक्त होकर परमात्मा की वाणी सुनी थी और तुम्हें सुनाई थी। यह योगयुक्त होना और रेजोनेन्स की क्रिया एक नहीं तो क्या है? ००

गीता और गीता का मर्म

डा० वेदतीर्थ श्री भरतेश शास्त्री

गीता महाभारत का अङ्ग है। महाभारत के युद्ध में जो कि लगभग हजार वर्ष पूर्व हुआ था तब गीता का उपदेश हुआ। युद्ध के पश्चात् जब सर्वत्र शान्ति हुई, पाण्डवों को राज्य मिल गया, तब यह कल्पना हुई कि यह वृत्तान्त लिखा जाय। व्यासजी ने युद्धारम्भ से पहले ही कह दिया था कि मैं कौरव पाण्डवों की कीर्ति को अटल कर दूँगा। कीर्ति को अटल करने का उपाय महाकाव्य बनाकर प्रचलित करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता था। व्यासजी ने लिखाया व उनके शिष्यों ने लिखना प्रारम्भ किया। लिखते-लिखते जब महाभारत लिखा गया, वही गीता के 'कागज' पर उतरने का समय है। समय के प्रवाह से सब जगह लिखित महाभारत का संग्रह हो गया। और गीता को भी उत्तम महत्व भाग होने से उपयुक्तता के विचार से अलग लिखकर रखने का सम्प्रदाय चल गया। समय के साथ विद्वान् लोग प्रतिदिन के पूजा-पाठ में गीता के पाठ को भी प्रमुख स्थान देने लगे और फिर गुरु-शिष्य परम्परा व लोकपरम्परा से लिखित रूप में गीता का प्रवाह चलता रहा और जब मुद्रण कला आई तब से तो क्या कहना है, गीता घर-घर में विद्यमान है। जब तक मुद्रण-कला भारत में नहीं आई थी, तब तक लिखित पोथी-पत्रों का जमाना था। अब भी प्राचीन पण्डितों के यहाँ, मठ-उपाश्रयों के यहाँ, संस्कृत के केन्द्रों में लिखित पोथी-पत्रों का प्रसार पाया जाता है। इस दिशा में भी सैकड़ों-सहस्रों हस्त-लिखित पोथी-पत्र हैं जिनको मुद्रित रूप में देखने का सौभाग्य भारतवासियों को मिलेगा या नहीं ईश्वर ही जाने। बहुत से पद्यात्मक ग्रन्थ भण्डारों में दब गये। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखते हैं कि भगवद्गीता का काल ईस्वी सन् से पूर्व २००० से १५०० वर्ष तक है। परलोकवासी जस्टिस तैलंग ई० पू० ६०० तक मानते हैं। पाश्चात्य पण्डितों ने 'वर्तमान गीता' व 'प्राचीन गीता' ऐसे दो विभाग किये हैं और अनेक बेजोड़ अनुमान लगाते हैं। गीता सबसे पूर्व कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में गद्य रूप से कही गई। फिर वह व्यासजी के महाकाव्य में, काव्य-रूप में आई और फिर

व्यासजी के शिष्य वैशम्पायनादि ने उसका प्रचार किया, उन्होंने ही इसे [illegible] से लेकर इसी वर्तमान महाभारत में रक्खा। इस गीता में ज़रा भी भेद नहीं पड़ा है।

लोकमान्य तिलक ने भी लिखा है—वर्तमान भगवद्गीता प्रचलित महाभारत का ही एक भाग है। 'भारत' और महाभारत शब्दों को हम लोग समानार्थक समझते हैं परन्तु वस्तुतः वे दो भिन्न-भिन्न शब्द हैं। महाभारत से पहले भारत कोई छोटा ग्रन्थ भी था, और उसमें गीता भी था नहीं। वर्तमान महाभारत के आदि पर्व में लिखा है कि उपाख्यानों के अतिरिक्त महाभारत के श्लोकों की संख्या २४००० थी और आगे चलकर यह भी लिखा है कि पहले इसका नाम 'जय' था। 'जय' शब्द से भारतीय युद्ध में पाण्डवों की जय का बोध होता है, और ऐसा अर्थ करने से यह प्रतीत होता है कि पहले भारतीय युद्ध का वर्णन 'जय' नामक ग्रन्थ में अनेक उपाख्यान जोड़ दिये गये और इस प्रकार 'महाभारत' एक बड़ा ग्रन्थ हो गया। अस्तु।

'गीता' के तात्पर्य को कुछ शब्दों में कहना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं। कर्म सिद्ध होगा या नहीं इस सन्देह में न पड़कर ईश्वर पर विश्वास रखकर, उसी की इच्छा से मैं कर रहा हूँ और पीछे से क्रिया-कलाप सब उसी के अर्पण करूँगा, इस भावना से कर्म करते रहना चाहिये। आज तक संसार के किसी भी तत्त्ववेत्ता ने इस प्रकार का उदात्त सिद्धान्त नहीं बताया। कर्मों को सर्वथा तिलाञ्जलि देना असम्भव है। यह बात भगवान् कृष्ण ने जगत् के सम्मुख अत्यन्त प्रभावयुक्त शब्दों में रक्खी है। धर्म व नीति के अनुसार भौतिक सुख भोगना पुण्य है, ब्रह्मचारी गृहस्थ उतना ही पुण्यवान है, जितना कि संसार से छुटकारा पाने वाला संन्यासी। इन्द्रियों को सर्वथा रोकना मृत्यु से भी कठिन काम है। और इन्द्रियों को ढीला छोड़ने से देव, ऋषि, मुनि, महात्मा भी रसातल को पहुँचते हैं। युक्त आहार-विहार द्वारा उत्साह व उत्थान का आदर्श लेकर कर्म करना चाहिए। प्रवृत्ति-निवृत्ति के दोनों आखिर के सिरे छोड़कर मध्य बिन्दु पर आना चाहिए। त्याग का अर्थ यह नहीं कि सर्वथा काम छोड़ बैठो। फल की आकांक्षा छोड़ना यही सच्चा त्याग है। केवल संसार को छोड़कर जंगल में भाग जाने का नाम 'संन्यास' नहीं किन्तु काम्य कर्मों को छोड़ने का नाम ही संन्यास है। जबरदस्ती इन्द्रियों को पीड़ा पहुँचाने का नाम तप नहीं किन्तु नियम पूर्वक गुरु-शुश्रूषा करते हुए शारीरिक, सत्य भाषणादि वाचिक, तथा प्रसाद, शान्ति आदि मानसिक तप है। ईश्वर सज्जनों का रक्षक व दुष्टों का संहारक

❈ श्री प्रभु-रज प्रसाद का चमत्कार ❈

✤ श्री रामेश्वर दत्त शर्मा

मेरे एक परम मित्र श्री कुलेन्द्र शर्मा स्वानन्द पर्वत दिल्ली के निवासी हैं। वह मेरे ही कार्यालय दिल्ली विकास प्राधिकरण में कार्य करते हैं। करीब ८-९ साल पहले उन्होंने अपनी छोटी बहिन पुष्पा की शादी अलीगढ़ के एक सम्पन्न ब्राह्मण परिवार में की थी। शादी के शुभ अवसर पर मैं भी आमंत्रित हुआ था। उस समय मैं अपने कार्यालय के एक विभाग में अधीक्षक था तथा कुलेन्द्र उसी विभाग का एक कर्मचारी था। मेरा घर उनके घर से लगभग आधा मील की दूरी पर है अतः वह प्रायः मेरे घर भी आते रहते थे।

शादी के कुछ दिन पश्चात् ही उन्होंने मुझे बतलाया कि उनकी बहिन शादी के बाद जब अपनी ससुराल गई थी उसके साथ एक अनोखी घटना घटित हुई। विस्तार से पूछने पर उन्होंने बतलाया कि पुष्पा को दिन में दोपहर का खाना खाने के बाद नींद की झपकी सी आ गई और उसने स्वप्न

(पिछले पृष्ठ का शेष)

है। ईश्वर स्वयं अव्यक्त रहता हुआ भी इस प्रकार व्यक्त रहता है। केवल भक्ति से ही ईश्वर साध्य है। वह सबको प्राप्त हो सकता है। उसके यहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं। सबको समान ही मोक्ष मिलेगा। शास्त्रों में तत्वज्ञान के विषय में जो मतभेद है वह ऊपरी ऊपरी है। वस्तुतः सब एक हैं, उन सबका भक्ति-मार्ग में मेल डालकर भगवान् कृष्ण ने संसारभर को अपना मित्र बनाया। बाल्यजीवन विपदों में भगवान् ने अपने उदात्त चरित्र से संसार को निःस्वार्थता का उदात्त पाठ पढ़ाया। कंस, जरासंध या शिशुपाल के वध में कृष्ण का कोई स्वार्थ न था, केवल सिद्धांत रक्षा के कारण उन्हें कठोर कर्त्तव्य करना पड़ा। कौरव-पाण्डवों के युद्ध में भी भगवान् का कोई स्वार्थ न था। उनका अभिप्राय तो था 'धर्म स्थापना' और अधर्म-नाश, साधुओं की रक्षा और दुष्टों का संहार। श्रीकृष्ण ने ईश्वर प्रतिपादित मार्ग सबके लिए सुलभ कर रखा है। इस लिए इतने भेद-विभेदों में भी समस्त भारत वर्ष समान रूप से श्रीकृष्ण का भक्त है और अनन्त काल तक रहेगा। ००

में एक प्रौढ़ जटाधारी पुरुष तथा एक स्त्री को देखा। स्त्री कह रही थी कि बेटी, तुम यहाँ कहाँ आ गई, अब ये लोग तुम्हें जीने नहीं देंगे। पुष्पा ने कहा कि अब तो मैं यहाँ आ गई है अब जा कहाँ सकती है। इतने पर पुष्पा की नींद खुल गई और उसने सारा वृतान्त अपनी सास को बतलाया। सब लोगों ने यह बात स्वप्न समझ कर टाल दी, परन्तु अगले ही दिन से पुष्पा की भूख बन्द हो गई। रात्रि समय पड़ते ही उसे जम्हाई छूटती है और आँखें लाल अंगारे की तरह दहकने लगती हैं। सारी रात वह अचेत अवस्था में रहती है। दिन में वैसे तो कोई कष्ट नहीं होता परन्तु भूख बिल्कुल नहीं लगती। २४ घण्टों में केवल एक या दो बार चाय पीती है। यह सब वृतान्त सुन मैंने उन्हें सलाह दी कि वह उसे किसी सियाने आदि को दिखायें। इसी प्रकार करीब १५, २० दिन या इससे कुछ अधिक समय व्यतीत हो गया। इस दौरान सुरेन्द्र शर्मा मुझे दिन प्रति दिन की हालत से अवगत कराते रहते और मैं पूर्ववत उन्हें यही सलाह देता रहता। सुरेन्द्र ने अपनी बहिन को इलाज के लिए कई मौलवी तथा भूत प्रेत विद्या जानने वाले व्यक्तियों को दिखाया परन्तु उसे कुछ भी आराम नहीं आया। सुरेन्द्र के अन्य सम्बन्धी इन्डियन मेडिकल साइन्सेज नामी अस्पताल में दिल्ली में ही कार्य करते हैं। उनके द्वारा पुष्पा का मेडिकल परीक्षण कुशल डाक्टरों से कराया गया। पूर्ण परीक्षण के पश्चात् डाक्टरों ने घोषित कर दिया कि उसे कोई बीमारी नहीं है और वह पूर्ण रूपेण स्वस्थ है। आश्चर्य की बात यह भी थी कि इतने दिन तक अन्न ग्रहण न करने से भी पुष्पा के स्वास्थ्य में कोई गिरावट नहीं आई थी।

एक दिन सांयकाल के समय अचानक ही संयोग वश मैं सुरेन्द्र के साथ उनके घर पर गया, हमें कमरे में बैठे करीब २०, २५ मिनट ही हुए थे कि संयोग वश पुष्पा अकेली ही आ गई। वह अपनी बड़ी बहिन के घर से आई थी। पुष्पा ने शिष्टाचार वश नमस्ते किया और कमरे में पड़े पलंग पर बैठ गई। उस समय हम चाय पीने की तैयारी कर रहे थे।

शिष्टाचारवश सुरेन्द्र ने खाने को बर्फी तथा नमकीन मँगाए हुवे थे। पुष्पा को पहली बार मैंने शादी के समय देखा था अतः मैं उसे पहिचान नहीं पाया। सुरेन्द्र ने स्वयं ही परिचय कराते हुवे मुझे बतलाया कि यही मेरी वह अभागी बहिन है जो व्याधा से पीड़ित है। मुझे सब हालात पहले से ही पता थी अतः मैंने पुष्पा से कुछ खाने के लिये कहा। इसके जवाब में पुष्पा ने यही कहा कि

भाई साहब, मैं तो यह सोचती हूँ कि आप लोग यह सब बातें ऐसे हैं। प्रातःकाल के तुरन्त बाद ही अकस्मात मेरे मन में प्रेरणा पैदा हुई और मैंने सुरेन्द्र को अपने साथ घर चलने के लिए कहा। सुरेन्द्र तुरन्त चलने को तैयार हो गया और हम दोनों घर आ गए। सुरेन्द्र चूँकि अच्छे शुद्ध विचारों का व्यक्ति है और वह मेरे साथ कई बार गुरुदेव के दर्शन भी कर चुका था, परन्तु अभी तक दीक्षा लेने का सौभाग्य उसे प्राप्त नहीं हुआ था। उसका झुकाव दिन प्रति दिन श्री प्रभु चरणों में बढ़ रहा था।

घर आकर मैंने स्नान किया, श्री प्रभुजी की आरती नियमपूर्वक की तथा श्रीप्रभु चरणों में लगा कर रज प्रसाद की पुड़िया सुरेन्द्र को देकर कहा कि तुम तुरन्त अभी जाकर, रात्रि से पहले यह रज प्रसाद पुष्पा को खिला दो। सुरेन्द्र वह पुड़िया लेकर पैदल ही अपने घर की ओर चल पड़ा। जब वह रास्ते की आधी दूरी पर पहुँचा तो अचानक उसकी तबियत घबराने लगी। सारा शरीर पसीने से तर हो गया और बार-बार मन में यह प्रेरणा पैदा होती कि हो सकता है उसकी यह हालत रज प्रसाद के कारण हुई हो अतः इसे तुरन्त फेंक दे। परन्तु दूसरे ही क्षण उसके मन में विचार आता कि यदि तूने यह रज प्रसाद फेंक दिया तो मेरी हालत इससे भी बुरी हो सकती है। इन्हीं विचारों से जूझता हुआ वह किसी तरह हिम्मत करके अपने घर पहुँच गया और आते ही उसने रज प्रसाद अपनी बहिन पुष्पा को खिला दिया। कुछ देर पुष्पा सुख की नींद सोई तथा सवेरे दिन उठते ही कहा कि जोरों की भूख लगी है कुछ खाने को दो। श्री प्रभु रज का इतना बड़ा चमत्कार देख कर सभी हैरान थे। पुष्पा पूर्ण स्वस्थ हो गई और उसके बाद उसे किसी रोग-व्याधि ने नहीं सताया। इस घटना के बाद सुरेन्द्र ने तथा उनके बड़े भाई साहब श्री शान्ति प्रसाद जी ने सात्त्विक दीक्षा ग्रहण की तथा आज श्री प्रभुजी की करुणा व कृपा उनपर बरसती रहती है।

❁ इसके विपरीत, देह को तो काबू में किया, पर मन को छूट दे दी, विषय-भोग का रस मन में चखते रहे, इस तरह मन का लालन किया, तो यह विसंवाद का लक्षण है, जीवन की विसंगति का चिह्न है। यह अन्तर्विरोध कहा जायगा। मिथ्याचार होगा, सदाचार नहीं। जब अन्तर्बाह्य सत्यपालन होगा तभी सदाचरण हुआ माना जायेगा। शरीर और मन की गति में दूरी भले हो, विरोध नहीं होना चाहिये। दिशा भिन्न नहीं होनी चाहिये।

—भूलिसार

'लंघनं परमौषधम्'

श्री विष्णुदेव बी० ए०

आयुर्वेद शास्त्र में शरीर को नीरोग और स्वस्थ रखने के लिये जो अनेक उपचार बतलाए गये हैं, उनमें आहार-चिकित्सा का एक विशेष महत्व है। जिन रोगियों को किसी अन्य चिकित्सा से लाभ नहीं हुआ उनको 'उपवास' से चमत्कारिक लाभ होता देखा गया है।

साधारणतः उपवास का अर्थ है—विशेष अवधि तक भोजन न करना। प्राचीन काल में उपवास की प्रथा इस देश में भली-भांति प्रचलित थी, आज भी हिन्दुओं में अधिक त्योहारों में, तथा मुसलमान व ईसाई आदि समस्त धर्मों में, शरीर और मन को स्वस्थ रखने के लिए उपवास करना बहुत आवश्यक समझा जाता है। पहले समय में उपवास करके समस्त रोगों की चिकित्सा, स्वास्थ्य रक्षा, मानसिक स्थिरता, और नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्थान के चार मुख्य उद्देश्य रखे जाते थे। इन दिनों भी शरीर को स्वस्थ रखने के लिये उपवास की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया जाने लगा है। उपवास करना एक आनन्द बलवर्धक औषधि समझा जाता है। वैद्यक शास्त्र में उपवास करने का बड़ा महत्व है। साधारणतः ज्वर आने पर भी एकाध दिन का उपवास कर लेना अच्छा रहता है। उपवास से केवल शारीरिक विकार ही दूर नहीं होते, बल्कि मानसिक विकारों को दूर करने के लिये भी यह बड़ी अच्छी औषधि समझी जाती है। महात्मा गांधी ने उपवास का महत्व अच्छी तरह समझा है। वे उपवास कर आत्म-शुद्धि कर लेते थे।

शरीर में लगातार होने वाले विषों को भी बहुत समय तक रहने से अनेक प्रकार के रोगों का रूप धारण कर प्रकट होते हैं—बाहर निकाल फेंकने के लिये, जितने उपाय और रामबाण उपाय हैं, उनमें सबसे अच्छा उपाय उपवास है। योरोप और अमरीका के डाक्टरों ने उपवास के परिणामों की वैज्ञानिक परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि जो रोग औषधियों से दूर नहीं हो सकते, वे उपवास से बड़ी सरलता से दूर हो जाते हैं। योरोप में अनेक ऐसे चिकित्सा के केन्द्र बन गये हैं, जिनमें केवल उपवास के द्वारा बहुत से रोग अच्छे किये जाते रहे हैं।

श्रीयुत बरनार मैक फैडेन जो अमरीका के बहुत प्रसिद्ध डाक्टर हैं, लिखते हैं—'मुझे पहले निमोनिया और कई छोटे-छोटे रोग थे, पर जब से मैंने उपवास के गुणों को जाना, तब से मैंने अन्य चिकित्साएँ त्याग दीं। गत वर्षों से मैं उपवास द्वारा अपने शरीर को नीरोग रखता हूँ। शुरू में चार दिन उपवास करके एकाध सेब या कोई फल खा लेता था, फिर मैं एक सप्ताह तक बिना आहार रहा। उपवास के पहले दिन मेरा वजन घटने लगा, और दूसरे दिन डेढ़ सेर। यह वजन घटना कम होता गया और सातवें दिन मैं केवल आधा सेर घटा। मैं खूब व्यायाम करता था और प्रति दिन कई मील का चक्कर लगाता था। प्रारम्भ में मुझे कुछ कमजोरी प्रतीत होती थी, पर एक-दो मील चलने पर यह जाती रहती थी। कुछ देर तक कहीं बैठकर फिर उठने से भी मुझे कुछ दुर्बलता प्रतीत होती थी, पर मेरा मस्तिष्क प्रति दिन स्वच्छ होता गया। उपवास के छठे और सातवें दिन बड़े आराम से व्यतीत हुए। आठवें दिन कुछ खाने की मेरी प्रबल इच्छा हुई, पर मैंने खाने को रोका और मैं व्यायाम करने लगा। मेरे शरीर में आश्चर्यजनक बल आने लगा और मैं प्रथम २० फिर ३०-३० पौंड और अन्त में ७० पौंड का डम्बल उठाने लगा।

उपवास करने से पेट के भीतर संचित गन्दे अथवा दूषित पदार्थ गलकर प्राकृतिक विधि से मल के लिये बाहर हो जाते हैं, और पेट को भी आराम करने का अवसर मिल जाता है। उपवास से पाचन-शक्ति भी बढ़ती तथा शरीर नीरोग रहता है।

आधुनिक सभ्यता में भोजन स्वाद के लिए और दूसरों को 'खुश' (ओबलाइज) करने के लिये किया जाता है। इसी से आज-कल सब संसार रोगों का शिकार बना हुआ है। स्वस्थ और दीर्घजीवी बनने के लिये आवश्यक है कि मनुष्य अल्पाहार करे। 'हितभुक्-मितभुक्' वाला सिद्धान्त श्रेयस्कर है, यानी लघु आहार सदैव हितकर होता है। फ्रांस देश का प्रसिद्ध वीर नेपोलियन बोनापार्ट अत्यन्त सादगी का जीवन बिताता था और उसने खाने-पीने में कभी कोई रुचि नहीं की। काम अवश्य वह बहुत करता था। उसने भोजन के सम्बन्ध में लिखा है—'मनुष्य कितना ही कम खाय, वह सदैव अधिक ही खाता है। अधिक खाने ही से मनुष्य बीमार पड़ता है, किन्तु कम खाने से कभी नहीं।'

सादा भोजन बिताने से ही कारण नेपोलियन का स्वास्थ्य इतना उत्तम था, उसमें काम करने की इतनी अधिक शक्ति थी, कि वह केवल एक दो घण्टे ही सोता था, इस पर भी सदा प्रफुल्लित और ताजा रहता था।

मानसिक सदाचार

डा० श्री परिपूर्णानन्दजी वर्मा

तन्मेमनः शिव संकल्प मस्तु—शीर्षक शिवकोश के विशेष लेख से प्रभावित और प्रेरित होकर एक पाठक ने हमें डाक्टर परिपूर्णानन्द वर्मा द्वारा लिखित मानसिक सदाचार नामक लेख प्रेषित किया है जिसे पाठकों के लिये उपयोगी समझकर हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं:—

—सं० सम्पादक

मिर्जापुर में गङ्गा तट पर [illegible] घाट प्रसिद्ध है। इस घाट के व्यापारी-बस्ती के निकट होने के कारण यहाँ अच्छी श्रेणी के लोग स्नान ध्यान के लिए आते हैं। यहाँ जलपान भी होता है। कुछ वर्ष पहले की बात है, इस घाट पर एक पागल सा साधु रहता था। लोग जलपान कर जो पत्ता या कागज फेंक देते थे, वह उन्हीं को चाटकर या जूठन खाकर वहीं पड़ा रहता था। एक दिन एक बड़ी फर्म के मुनीम जी स्नान कर ध्यान लगाये जप कर रहे थे। एकाएक उस पागल ने उन पर एक मुट्ठी मिट्टी फेंक दी। मुनीम जी और अन्य स्नान करने वाले बहुत अप्रसन्न हुए। पागल चुप रहा। मुनीमजी जप में लग गये, पागल ने फिर मिट्टी फेंकी। अब उनका क्रोध उस पर बरसने वाला ही था कि पागल ने अपना पत्ता सामान उठाते हुए इतना कहा—'जप कर रहा है, मन जूता खरीद रहा है!'

मुनीमजी अवाक् रह गये। वास्तविक बात तो यही थी कि जप के समय उन्हें कल-

(पिछले पृष्ठ का शेष)

उपवास चिकित्सा के आचार्य डा० मेक फेडेन का कथन है कि यदि मनुष्य स्वस्थ दशा में प्रति सप्ताह एक दिन जिस दिन विशेष काम न हो उस दिन-उपवास नियम-पूर्वक करे, तो साधारणतः उसके रोगी होने की सम्भावना बहुत कम हो जायगी। और यदि रोग की दशा में उपवास करना शुरू करदे तो रोग का बढ़ना अवश्य कम हो जायगा। अस्तु, स्वास्थ्य की रक्षा करने और जीवन को स्थिर रखने के लिए कभी-कभी मनुष्य को उपवास करना अर्थात् आमाशय को विश्राम देना बहुत आवश्यक है।

एक नया मुकाम की याद आ जाती थी, जहाँ कम से कम थोड़ी जगह का भाव रह कर आदि के और ने जा के समय सोच रहे थे कि काम कैसे चलाया जाय। पाठक भी उनके मन की बात कैसे मालूम हुई? बस, चोरों को विश्वास हो गया कि यह कोई महात्मा है। पर वह पाखंड भी प्रकट हुआ तो फिर कभी न दिखाई पड़ा। इस घटना से प्रकट है कि तुम ऊपर से देखने में चाहे जितना भी भले बन रहे हो, मन के भीतर यदि दुराचार है तो तुम सदाचारी नहीं कहे जा सकते। बाहरी आचरण दिखावे से नहीं, मन से सम्बद्ध रहता है। इसीलिये कबीर साहब ने कहा था—

'मन न रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा।'

इस उदाहरण का एक ही सार-तत्त्व है और वह यह कि आचरण मन में है, बाहरी दिखावे में नहीं। जो मन से शुद्ध है, वही सदाचारी है। इसीलिये स्मृतिकारों ने कहा था—'मनःपूतं समाचरेत्' (मनु० ६/४६, वाल्मी०, आपस्तम्ब० ४/२२) मन को शुद्ध कर पवित्र आचरण का पालन करें। इसी बात को एक विद्वान् अमेरिकन पादरी—एच० डब्ल्यू० बीचर—(सन् १८१३-१८८७) ने लिखा था—'मनुष्य की असलियत उसके निजी चरित्र में है। उसकी यदि कोई यश है, प्रतिष्ठा है, तो दूसरों की धारणाएँ है, दूसरों के उसके प्रति विचार हैं। चरित्र उसके भीतर है। यश, प्रतिष्ठा तो छाया मात्र है, ठोस वस्तु तो चरित्र ही है।'

डॉ० हाइकल नामक एक विदेशी विद्वान् (सन् १७०६-१८०२) ने भी लिखा है—मानव का चरित्र सफेद कागज की तरह ही है। एक बार उस पर धब्बा लग गया तो फिर वह पहले-जैसा सफेद कभी न होगा। अतः चरित्र को सदा निर्मल बनाना चाहिये।

श्री कुबेर नाथ जि [illegible] ने युवकों को समझाया था कि 'हरेक युवक के लिये सबसे आवश्यक वस्तु है चरित्र की रक्षा तथा उसे प्राप्त करना।' और इसी सिलसिले में विद्वान् दार्शनिक स्पेंसर की बात याद रखनी चाहिये। स्पेंसर (सन् १७६८–१८५४) ने कहा था—'मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा नहीं, उसका चरित्र है। वही उसका सबसे बड़ा रक्षक है। यदि चरित्र मन की शुद्धि से बनता है तो मन हमारे हृदय पर निर्भर है। अग्नि पुराण ने तो कह दिया है कि 'बुद्धिमान का ईश्वर हृदय में रहता है, तो फिर यह मान लेना होगा कि जो दुराचार करता है, वह पहले अपने हृदय से ईश्वर को निकाल फेंकता है।'

याज्ञवल्क्यस्मृति में विधि (कानून Law) को 'व्यवहार' कहा गया है और उस महापुरुष ने स्पष्ट कर दिया है कि व्यवहार तथा

सदाचार एक ही वस्तु है। जो अव्यवहारी है, वह सदाचारी भी है। 'धम्मपुराण दर्शन' में सदाचार की व्याख्या में कहा गया है—'कर्तव्य, शास्त्रीय, स्वयं-स्थित, मर्यादा का व्यवहार, कालगामी, सही तथा सत्य।'

यूनानी दार्शनिक डेमोस्थनीज-(ईसापूर्व ४०० वर्ष) ने लिखा था कि 'विवाद ईश्वर तथा साधु संतों को देन है।' दार्शनिक अरस्तु कहते थे—'सदाचार बुद्धि, तर्क तथा ईश्वर के वरदान से प्राप्त होता है।' बाल्मीकीय रामायण में तीन प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। अपने जीवन में एक तो वह है जिसे हम नित्य करें, किया करते हैं—जैसे स्नान इत्यादि। दूसरा किसी निमित्त, किसी कारण से होता है। तीसरा है काम्य, जो किसी प्रयोजन, इच्छा या संकल्प के कारण होता है। इन तीनों स्थितियों में आचरण की परख होती है। जिसने किसी एक स्थिति में आचरण का ध्यान रखा तथा दूसरी स्थिति में आचरण से उदासीन रहा, वह कदापि सदाचारी नहीं है। मनुष्य प्रायः काम्य कर्म में ही अपने पतन की सामग्री जुटा लेता है। हम अपना हित भी चाहते हैं, उससे दूसरे की हानि हो तो होने दो, हमें अपना कल्याण चाहिये। पर मुस्लिम धर्म-ग्रन्थ कुरान शरीफ में भी यही लिखा है—जिसकी हजारों वर्ष पहले हमारे शास्त्र भी चेतावनी दे चुके थे—कि 'ऐसा कर्म न करो, जिसे तुम चाहते हो कि दूसरे भी तुम्हारे साथ वैसा न करें'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'

(महाभारत)

छोटी-मोटी सिद्धि प्राप्त करने से न तो मोक्ष होता है और न आचरण बनता है। पतञ्जलि, बुद्ध तथा आज के युग के श्रीराम-कृष्ण परमहंस ने सिद्धि और ऐश्वर्य को कैवल्य (मुक्ति) में बाधक माना है। श्रीराम-कृष्ण परमहंस ने तो कहा था—'सावधान रहो! अपने भीतर को जगाओ। छोटी-मोटी सिद्धियों या ऐश्वर्य के चक्कर में मत पड़ो।' जैनियों के उत्तराध्ययन-सूत्र में चमत्कार को मुक्ति में बाधक माना है। साधु-वचन है—

मन के मते न चालिये,

पलक-पलक मन और।

पारसी धर्म, जो हमारे आर्य-धर्म की ही एक शाखा है, हमें जीवन के लिये तीन मन्त्र देता है—हुमता सद्विचार, हुख्ता-सद्भाषण और हुवर्श्ता-सत्कार्य। बस, इन्हीं तीन के पालन से स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सदाचारी को अपने जीवन में एक न एक रेखा बनाकर प्रभु से लगन लगानी पड़ेगी। तभी वह मन के अन्धकार से आगे उठकर अच्छे चरित्र का निर्माण कर सकेगा और इहलोक और परलोक को सम्भाल सकेगा।

योग की द्वादश भूमिकायें

ले. श्री बालकोबा भावे

१. योग—चित्त वृत्तियों को सम्पूर्ण रूप से वश में करना।
२. सम्प्रज्ञात—अस्मिता को हटाकर चित्त में स्थित आत्मतत्व का दर्शन, अकर्तृत्व का अनुभव, आत्म दर्शन।
३. असम्प्रज्ञात—अकर्तृत्व की सहज अवस्था, जो अस्मिता के विराम प्रत्यय का सहज अभ्यास होने से आती है।
४. सबीज समाधि—ब्रह्माण्ड में व्याप्त ईश्वर तत्व का दर्शन, प्रभु दर्शन।
५. निर्बीज समाधि—सब प्रकार से वृत्ति निरोध हो जाने से भेद के अभाव की प्रतीति अद्वैत दर्शन।
६. ध्यान—आत्म प्रत्यय की अखण्डधारा का अनुभव।
७. निरोध परिणाम—दो प्रत्ययों के बीच के निरोध क्षण में चित्त को अवस्थित करने का अभ्यास।
८. समाधि परिणाम—सर्वार्थता का क्षय और एकाग्रता का उदय होने से प्राप्त होने वाला आत्म लय।
९. एकाग्रता परिणाम—शान्त, समान एक ही अद्वैत प्रत्यय के अनुभव से भेद के अभाव की अद्वैतावस्था।
१०. विवेक ख्याति—स्वरूप पहचान कर उस स्वरूपानुभव में अखण्ड स्थित रहना। इसे चित्त से भिन्न आत्म ख्याति या अपनी अखण्ड पुरुष ख्याति भी कहते हैं।
११. धर्म मेघ समाधि—अखण्ड आत्म ख्याति के अनुभव से पूर्ण स्वरूपस्थ, धर्ममय आचरण।
१२. कैवल्य—आत्मा के समान चित्त की सम्पूर्ण शुद्धि के अनुभव से दोनों का वियुक्त होकर चित्त का अपनी प्रकृति में लय और जीवात्मा का, साक्षी द्रष्टा का अपने आत्म-स्वरूप में विलय।

महल से खंडहर तक

यह एक सच्ची घटना है—नाम और स्थान नहीं बतलाना है, उसकी आवश्यकता भी नहीं है। एक विद्वान संन्यासी महोदय थे। उनकी बड़ी अभिलाषा थी सुन्दर किनारे आश्रम बनवाने की। बड़े परिश्रम से, कई वर्षों की चिन्ता और चेष्टा के परिणाम स्वरूप द्रव्य एकत्र हुआ। भूमि ली गयी, भवन बनने लगा। विशाल भव्य भवन बना आश्रम का और उसके गृहप्रवेश का आयोजन भी बड़े उत्साह से हुआ, सैकड़ों व्यक्तियों ने भोजन किया। भंडारे की जूठी पत्तलें फेंकी नहीं जा सकी थीं, जिस चूल्हे पर उस दिन भोजन बना था, उसकी अग्नि बुझी नहीं थी, गृहप्रवेश के दूसरे दिन प्रभात का सूर्य स्वामीजी ने नहीं देखा। उस रात्रि उनका परलोकवास हो गया।

यह कोई एक घटना हो, ऐसी तो कोई बात नहीं है। ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं। हम इसे देखकर भी न देखें ………।

कौड़ी कौड़ी महल बनाया,
लोग कहैं घर मेरा।
ना घर मेरा ना घर तेरा,
चिड़िया रैन बसेरा।

यह धर्मशाला कितनी सत्य है, यह कहना नहीं होगा। जिसे हम अपना भवन कहते हैं, क्या वह हमारा ही भवन है? जिसमें आसक्ति, जिसकी ममता से हम उसे अपना भवन मानते हैं, उसकी ही आसक्ति, उतनी ही ममता उसमें चिऊँटी भी है, हम जानते हैं? लाखों चींटियाँ, मक्खी और मच्छर और दूसरे छोटे कीड़े, सैकड़ों छिपकलियाँ, चूहे, पक्षी और प्रकृति के तो दूसरे प्राणी जिन्हें हम जानते तक नहीं—लेकिन भवन उनका नहीं है, यह कैसे? उनका ममत्व भी उसी कोटि का है, जिस कोटि का हमारा।

मकान—महल—दोनों की गति एक है। बड़ी आस्था से, बड़े परिश्रम से उसका निर्माण हुआ। उसकी साज सज्जा, उसका वैभव—लेकिन एक भूकम्प या एक ध्वंस ………। आज तो किसी देश में कहीं भी मनुष्य की वैज्ञानिकता ही भूकम्प से भी अधिक प्रलय कर सकती है। महानाश के जो बम किसी के शस्त्रागार पर गिरते जा रहे हैं—कहीं पर आणविक अशान्ति, कहाँ प्रारम्भ होगी, कोई नहीं जानता

❀ मुझको निखार दो........ ❀

❀ श्री सन्तोष कुमार गौड़

हृदय शुद्ध कर दृढ़ विचार दो।
मेरे प्रभु, मुझको निखार दो॥
प्रेम भक्ति का पाठ पढ़ाओ।
काम, क्रोध, मद, लोभ मिटाओ।
मेरे जीवन के मरुथल को,
मधुरस की ठण्डी फुहार दो।
मेरे प्रभु, मुझको निखार दो।
जीवन की दुस्तर चिन्तायें।
इस युग की अगणित पीड़ायें।
अनहित में यह विष दे मुझको॥
'नीलकण्ठ' कहकर पुकार दो।
मेरे प्रभु मुझको निखार दो।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

रमाणु या उससे भी ध्वंसक किसी अस्त्र का क आघात—क्या रूप होगा इन भवनों र महलों का ?

कुछ न हो—काल अपना कार्य बन्द नहीं र देगा। जो बना है, नष्ट होकर रहेगा। हल का परिणाम खंडहर—वह खंडहर, जो देखकर मनुष्य ही डर जाता है। शान्ति हर, पेड़ों दिन में काले सर्प भी साक-

पानी की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य का मोह उससे महल बनवाता है और महल खंडहर बनेगा, यह निश्चित है।

केवल महल ही खंडहर नहीं होता। जीवन में हम जो मोह का विस्तार करते हैं—धन, जन, मान, अधिकार, भूमि—मोह का महल ही है यह सब और मोह का महल ढहेगा ही। उसका वास्तविक रूप ही है—खंडहर।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

गोरक्षपद्धति के उपयोगी अंश

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ॥

द्वितीय स्वाधिष्ठानचक्र, रक्तवर्ण षट्दलकमलकर्णिकामें सगुण या निर्गुण ज्योतिः स्वरूप आत्मा को नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करने से योगी आनंदावस्था को प्राप्त होता है।

× × × × ×

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥

तृतीय मणिपूरकचक्र, उदय होते सूर्य मण्डल समान रक्तवर्ण कमलकर्णिका में सगुण वा निर्गुण ज्योतिरूप आत्मा को नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करने से योगी समस्त जगत्क्षोभ करने की सामर्थ्य पाता है।

× × × × ×

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥

चतुर्थ, हृदयरूप आकाश अनाहतचक्रकर्णिका में रहते प्रचण्ड तेजवान् सूर्य समान तेजस्वी बाणलिंग (शिव) का ध्यान नासाग्रदृष्टि देकर करने से योगी ब्रह्ममय होता है।

× × × × ×

विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।

ऐसे ही विद्युत् समान प्रभायुक्त हृदय कमल कर्णिका में उक्त प्रकार से नासाग्रदृष्टि देकर सगुण या निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्मा के ध्यान करने से योगी ब्रह्ममय (जीवन्मुक्त) होता है।

सततं घुण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥

कण्ठ स्थान में दीपज्योति समान कान्तिमान् विशुद्ध चक्र में नासाग्रदृष्टि करके सगुण निर्गुण या ज्योति स्वरूप आत्मा के ध्यान करने से योगी अमर होता है।

× × × × ×

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं रत्नमाणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥

भ्रूमध्ये आज्ञा चक्र में माणिक शिखा (चुन्नी की सूक्ष्म चमक) समान रक्तवर्ण आत्मा को नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करने से योगी समस्त दुःख रहित आनन्दमय होता है।

× × × × ×

ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥

आज्ञा चक्र में नीलवर्ण शिव परमात्मा का ध्यान करता हुआ प्राणायाम करने से योगी जीवात्मा परमात्मा के ऐक्य को पाता है।

× × × × ×

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥

आज्ञा चक्र में निर्गुण रूप, शान्त विश्व व्यापक, शिव के नासाग्र में दृष्टि देकर ध्यान करने से जीवभाव को देने वाले गुण कर्म से रहित होकर ब्रह्ममय हो जाता है।

× × × × ×

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥

जिस तत्त्व में नाद प्रकट होता है ऐसा आकाश तत्त्व स्थान मन का स्थान है वही भ्रूमध्य में आज्ञा चक्र कहलाता है इसमें रहने वाले सदा शिवरूप आत्मा के ध्यान करने से योगी कैवल्य मुक्ति पाता है।

× × × × ×

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥

आज्ञा चक्र के ऊपर शून्य स्थान में करने योग्य ध्यान कहते हैं—स्वरूप को आच्छादित करने वाला, मलिन सम्बन्ध से रहित, आकाश समान, एकाकार, सर्वव्यापक, प्रकाशमान तेज स्वरूप के ध्यान करने से योगी मुक्ति को प्राप्त होता है।

जीवन और जीवनासक्ति

श्री बालकोबा भावे

सभी जीवित प्राणियों के लिये जीने की इच्छा एक शक्ति है, लेकिन जीवन की आसक्ति के कारण वह शक्ति अशक्ति बन जाती है।

मृत्यु के क्षण में मनुष्य अत्यन्त व्याकुल हो जाता है, इसका कारण जीवनासक्ति ही है। इसी से मनुष्य बहुत दुर्बल हो जाता है। ज्ञानेश्वर महाराज लिखते हैं—"मना मर हा बोलु न साहती। आणि मेलिया तरी रडती"—यानी 'मर' शब्द बोलना सुनना भी सहन नहीं होता और किसी की मृत्यु होने पर तो हम रोने लगते हैं।

पतञ्जलि के योगसूत्र में साधन पाद का तीसरा सूत्र है :

"अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः"। इसमें पञ्च विध क्लेशों का वर्णन है। पहला क्लेश है 'अविद्या'। अविद्या का अर्थ है अज्ञान, जिसके कारण अपने स्वरूप की, आत्म-भाव की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति से दूसरा क्लेश 'अस्मिता' पैदा होता है। अस्मिता का अर्थ है देहभान। इसमें मैं देह, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ हूँ, इस प्रकार अभिमान का प्रवाह जीवन में आरम्भ होता है। इसे ही अहंकार कहते हैं। इसके तीसरा और चौथा क्लेश 'राग' तथा 'द्वेष' यानी काम-क्रोध आदि विकार जीवन में प्रकट होने लगते हैं। और अन्तिम पाँचवाँ क्लेश है 'अभिनिवेश' जिसका अर्थ है जीवित रहने की तीव्र इच्छा, जीवनासक्ति, जीवन-मोह। साधनपाद में ही आगे नौवें सूत्र में अभिनिवेश के सम्बन्ध में यों कहा है—"स्वरस-वाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।" स्वरसवाही = अपने संस्कार या स्वभाव के कारण सहज बहने वाली, अभिनिवेश = जीवन तृष्णा, जीवित रहने की तीव्र इच्छा, विदुषः अपि = विद्वान्, अधिकारी पुरुष में भी, तथा-रूढ़ः = अज्ञानी के समान पायी जाती है। जीने की तीव्र लालसा अज्ञानियों में पायी जाती है, यह स्वाभाविक ही है, मगर स्वभाव या संस्कार के कारण ज्ञानी मनुष्य में भी उसी प्रकार पायी जाती है। यह जीवन की आसक्ति ही है जिसके कारण मृत्यु का भय प्रत्येक को होता है। जिजीविषा का प्रभाव बहुत ही गहरा होता है।

जीवन की आसक्ति के कारण मृत्यु के नाम से ही हम भयभीत होते हैं। लेकिन यह भयभीत होना निष्कारण है। इसका कोई स्वतन्त्र आधार नहीं है।

जीवनासक्ति का अर्थ है जीवित रहने की आसक्ति। सारा जीवन आसक्ति में गुजरता है। अपनी देह की आसक्ति तो है ही, साथ ही माता-पिता, पुत्र-पुत्री आदि सभी सम्बन्धियों की भी होती है। जो काम हम कर रहे होते हैं उसकी आसक्ति होती है। जहाँ रहते हैं, उस मकान की आसक्ति भी बन जाती है। खाने की, देखने की, सूँघने की, सुनने की, स्पर्श करने की भी आसक्ति पैदा होती है। ये पाँचों विषय हमारी इन्द्रियों को बराबर आकर्षित करते रहते हैं, इनकी आसक्ति भी पैदा होती है। मानों सारा जीवन ही आसक्ति पर खड़ा है। यहाँ जीवनासक्ति शब्द का प्रयोग इस व्यापक आसक्ति के अनुसन्धान में किया गया है। जब इतने प्रकार की आसक्ति भरी हो, तब मृत्यु के नाम से भयभीत होते हैं तो यह स्वाभाविक ही है। लेकिन यहाँ कह रहे हैं कि मृत्यु से भयभीत होना निष्कारण है। वास्तव में भयभीत होना चाहिए आसक्ति से। आसक्ति से डरते हैं, तो उसे दूर करने का भी प्रयत्न करेंगे। इसमें सफल होते हैं तो मृत्यु का भय कभी पैदा ही न हो। मृत्यु भय का आधार वस्तुतः जीवनासक्ति के सिवा दूसरा कुछ नहीं है, अतः जीवनासक्ति का त्याग करना चाहिए।

देह के अन्तिम क्षण की व्यथा जीवन का अन्तिम सिरा है। देह छूटने का समय आता है तो देह में कुछ न कुछ फेर फार होता ही है। देह जब से पैदा हुई है, तभी से प्रतिक्षण उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता ही रहता है। आखिरी परिवर्तन देह का मरण है। पैदा होने से पहले देह को गर्भवास करना पड़ता है। गर्भ में वह तैयार होती है। गर्भ से बाहर निकलती है तब प्रायः रोती हुई ही आती है।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके जन्म होने पर ही सम्भव है। शरीर भी एक पदार्थ है, वह पैदा होता है तब वह अस्तित्व में आता है। पैदा होना उसका आदि है, जब आदि है तब अन्त भी है, वही उसका अन्तिम सिरा है। देह का प्रारम्भिक सिरा साधारण उसकी परावलम्बी स्थिति के कारण जब दुःखदायी है तब अन्तिम सिरा भी कष्ट प्रद होगा ही। यह देह का धर्म है, देह का स्वाभाविक स्वरूप है। इसे कोई टाल नहीं सकता। पैदा होने के बाद देह अस्तित्व में रहती है। तब उसमें परिवर्तन होने लगता है। शुरू में शरीर बढ़ता है, वृद्धावस्था में जीर्ण होने लगता है और अन्त में यानी सामान्यतः पचास, साठ, सत्तर वर्ष के बाद और अधिक

से अधिक ही वर्ष के बाद नष्ट हो जाता है, खत्म हो जाता है। जिसका आरम्भ है, उसका अन्त भी आता ही है। आरम्भ और अन्त दोनों कष्टदायी होते हैं। यह सृष्टि का सहज स्वरूप है।

देह के प्राणी जीवन के इस कष्ट का आरोपण हम मृत्यु पर करते हैं। वास्तव में मृत्यु कष्टदायक नहीं है। जो भी कष्ट है वह देह समाप्ति का, जीवन समाप्ति का कष्ट है। वस्तुतः कष्ट देने वाला तो यह शरीर है, जीवन है।

ज्ञानी-ध्यानी भी पुरुषों के लिए यह शरीर कष्टदायक नहीं होता, बल्कि सर्वत्र परमात्म-दर्शन तथा ईश्वर भक्ति का आनन्द लूटने का साधन होता है। साधारण मनुष्य शरीर को सुख-साधन मानता है, इसलिए सामान्यतः हमेशा ही और विशेषतः अन्तिम क्षण में यह दुःख का कारण बनता है।

इस प्रकार मृत्युकालीन कष्ट का सम्बन्ध मृत्यु से जोड़ने के बजाय देह के साथ, जीवन के साथ जोड़ने का विनोबाजी का यह विचार बड़ा मार्मिक है।

मृत्यु का उपकार वर्णन कर रहे हैं। कहते हैं, अन्त समय में जब शरीर छूटने को होता है, तब बीमारी या अन्य कारणों से जो असह्य वेदना होती है उससे कौन छुड़ाता है मृत्यु ही तो है।

जब रोग असाध्य हो जाता है, तब वैद्य, डाक्टर, हकीम सब जवाब दे देते हैं, कष्ट से मुक्त कराने में असफल हो जाते हैं। मित्र भी लाचार हो जाते हैं।

कैन्सर, लकवा आदि कई बीमारियाँ ऐसी हैं जिनके कारण रोगियों को घोर तकलीफ भोगनी पड़ती है। इस तकलीफ से बचने के लिए लोग जमीन-आसमान एक कर देते हैं और जब सब प्रकार से निरुपाय बन जाते हैं तब मृत्यु का ही एक सहारा है जो उस घोर वेदना से, भयंकर कष्ट से मुक्ति दिलाती है। इस तरह यह हमारा परम मित्र है, उपकार-कर्ता है। उसे शत्रु समझकर उससे डरना बुद्धिमानी नहीं है।

मृत्यु के इस उपकार को भूल जाना बड़ी कृतघ्नता ही माना जायगा। मृत्यु आती है तो इसके प्रति कृतज्ञ ही रहना चाहिए। न उससे डरने का कारण है, न उसके प्रति उदासीन होना उचित है।

मृत्यु का क्षण आगामी जन्म का भी निर्णायक होता है। मृत्यु के समय चित्त की जो स्थिति होगी उसके अनुसार अगला जन्म मिला करता है। मूढावस्था रही तो पुनः देह धारण करना अनिवार्य हो जाता है और फिर जिस प्रकार की वासना चित्त में होगी उसी के अनुरूप शरीर, स्थान और आयु की प्राप्ति होती है। ज्ञानावस्था रही, विकार शून्यता रही, विवेक जागृत रहा तो परमात्म-प्राप्ति होती है। मृत्यु के क्षण का इस दृष्टि से भी महत्व है। उस क्षण को सावधान और विवेक युक्त रखने के लिए जीवनभर वैसा प्रयत्न करते रहना चाहिए, यह भी परोपकार से बड़ी सूक्ति है ऐसा समझना चाहिए। ❖❖

योग का प्रथम सोपान

आशुफलदायी दृष्टियोग

श्री चन्द्रनारायण दीवान

वर्तमान में विश्व के समूचे समाज में एक वैचारिक अस्थिरता की स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है। मानवीय सम्बन्धों का आधार विश्वास टूट रहा है जिससे विघटन सम्बन्धी विश्वास से दूर सन्देह के घेरे में जाते जा रहे हैं, यहां तक कि भौतिकवादना ने ईश्वरीय सत्ता पर भी अविश्वास की परत चढ़ादी। क्या कारण है और क्या निराकरण है यही मार्ग की पहलू है जो केवल योग के महान मनीषियों द्वारा हल हो सकते हैं।

महाप्रभु रामलालजी की अनुभूति जो मात्र अल्प ध्यान से प्राप्त हो जाती है योग की पारलौकिक विलक्षणता का प्रत्यक्ष उदाहरण है। आज मनुष्य चमत्कार चाहता है तन्त्र सिद्धि मन्त्र सिद्धि, कुछ योगियों के रोमांचक चरित्र प्राप्त कर या देखकर मनुष्य इस आशाओं आस की ओर ललचायी नजर से देखता है तथा अनेकानेक व्यक्ति अनन्त योगिराज चन्द्रमोहन जी महाराज से ऐसे ही चमत्कार की आशा रखकर आते हैं परन्तु वे भूल जाते हैं कि सिद्ध पुरुष दिखावटी चमत्कारों से बहुत बहुत दूर होते हैं।

मैंने ऐसी ही विलक्षण अनुभूति आश्रम में प्राप्त की है महाप्रभु के उपदेशानुसार शान्ति आत्मा में अन्तर्निहित है उसी का स्पष्टीकरण समस्त शंकाओं का समाधान है। मन को योग के माध्यम से शून्यवीथिका से निकालकर एक सूत्र में बांधकर अपने अन्दर उठ रही समस्याओं को सहज ही हल किया जा सकता है यह शंका विहीन, समस्या विहीन स्थिति ही वास्तविक शान्ति का प्रतीक है।

जहाँ तक चमत्कार का प्रश्न है। प्रभुजी स्वयं में एक महान चमत्कार हैं। वह आज अलौकिक शरीर से सूक्ष्मी-करण के द्वारा उस हर व्यक्ति के पास हैं जो मात्र उनका चिन्तन मनन करता है। यदि कोई चाहे कि मुझे तो प्रमाण ही चाहिये तो मैं यह दावे से कह सकता हूँ मात्र कुछ मिनट में चमत्कार परिलक्षित हो जायेगा। जैसा मैं अपने कई

वस्तुओं के साथ प्रयोगात्मक रूप से स्पष्ट और सिद्ध कर चुका हूँ। मन्त्र जप, योग, साधना आदि तो बहुत दूर हैं। केवल प्रभुश्री के चित्र के समक्ष उनके चक्षुओं में दृष्टि मिलाकर कुछ ही क्षणों में वास्तविक अनुभूति को सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

जब भी आत्मिक विश्वास खण्डित होता हो या भौतिक जीवन की मानसिक हलचल हो तब दृष्टि प्रयोग असीम शक्ति प्रदान करता है। लगता है मैं किसी अव्यक्त साहस से संयुक्त हो चुका हूँ।

प्रभुश्री के स्मरण और चिन्तन से अपना ही विश्वास नहीं बल्कि अपने आसपास के पर्यावरण सहित सभी प्राणियों का विश्वास जीता जा सकता है। यदि आत्मिक मार्ग में काम, क्रोध, लोभ, मोह बाधा बनते हैं तो इनका बाधा बनना न्यायोचित है क्योंकि सत्वगुण और तमोगुण से उसका शाश्वती प्रभु का सम्बन्ध है। ये विकार सहज ही मन को छोड़कर जाना नहीं चाहते हैं। अतः यदि ये विकार सत की ओर बढ़ने से रोकते हैं तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये। हाँ इन विकारों की तीव्रता एक सीमा को छूकर स्वतः ही निष्प्राण हो जाती है तब व्यक्ति योग के योग्य सुपात्र बन जाता है।

प्रकरण दृष्टि योग का है। दृष्टि योग यद्यपि शास्त्रों में विस्तार से वर्णित नहीं है लेकिन उसकी महिमा यत्र तत्र सभी जग लिखित पड़ा है। मनोवैज्ञानिक जो मन की उसकी हद तक भी नहीं पहुँच पाते हैं वे इसे हिप्नोटिज्म या मेस्मेरिज्म की संज्ञा दे देते हैं। लेकिन वास्तविकता इस बात से परे है। मूर्ति पूजा के अन्तर्गत यही दृष्टि योग समाया है। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने साकारोपा सना इसी तथ्य को ध्यान में रखकर की थी कि दृष्टि योग मन को एकीकृत कर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर देता है। जिसे हम ध्यान शक्ति कहते हैं वह मन की एकीकृत स्थिति का रूप है।

दृष्टि योग के लिए गृहस्थ साधक को सहज स्थिति में सात्विक रहकर स्नानादि के पश्चात् प्रभुश्री के चित्र पर स्थिर दृष्टि रखकर अहं भाव को बिसार शून्य होकर परम पिता परमात्मा की महानता का स्मरण करना चाहिये। ऐसा करते हुये प्रभुश्री की अलौकिक अनुभूति का संचरण होता है तथा मन स्वतः ही वैराग्य युक्त होने लगता है। लेकिन योग की स्थिति में किसी भी समय प्रभुश्री के चित्र पर चक्षुओं में दृष्टि डालकर आत्म-समर्पण करता हुआ स्थिर रह जाये तो मात्र कुछ ही क्षणों में विलक्षण परिवर्तन परिलक्षित होने लगते हैं। यह नहीं है दृष्टि योग जो कलियुग में चमत्कार चाहने वालों के लिये द्वार है। इसकी सिद्धि आस्था अनिवार्य

लक्ष्मी कहाँ रहती है ?

डा० श्री राजकुमारी मिश्रा

आज के समाज में जिधर भी देखें धन व सुख-सुविधा के साधनों के उपार्जन की होड़ सी लगी दिखाई देती है। कम से कम समय में धनवान् बनने की धुन में आज का मानव, कर्मठ हो अथवा परित्याज्य, उत्तम हो व निकृष्ट—सभी प्रकार के कर्म कर रहा है। इसका कुफल उसके निकटवर्ती परिवेश पर तो पड़ ही रहा है—सुदूर वातावरण भी इस विष से अछूता नहीं है। यही कारण है आज हमारे समाज में अनेक बुराइयाँ पनपती जा रही हैं। धनलिप्सा के कारण ही अवैध धन्धे, जमाखोरी, कालाबाजार, स्मगलिंग इत्यादि की समस्यायें प्रशासन के आगे अपना मुँह खोले खड़ी हैं। आये दिन की हत्यायें व लूट-पाट जैसे कुकृत्य वर्तमान मानव की धन-लिप्सा का नंगा चित्र खींच रहे हैं। इन्सान की राक्षसी प्रवृत्तियाँ और भी अधिकाधिक उभर कर सामने आ रही हैं। धनलिप्सा के वश कितने ही लोग दहेज न लाने के कारण फूल की सुकुमारी भोली भाली अबलाओं को जीवित ही जलाकर मार देते हैं। धन ही मानो आज इनके जीवन की धुरी बन कर रह गया है। नैतिकता, धार्मिकता, भगवद्-भक्ति इत्यादि मानव विकास की प्रमुख

(पिछले पृष्ठ का शेष)

आस्था युक्त व्यक्ति तो इस परिधि से बाहर रहता है।

यदि मन में शंकाओं का ज्वार हो तो उसे कुछ इसी दृष्टि मात्र से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है उस समय सभी समस्याओं का समाधान स्वतः प्राप्त होता चला जाता है। गीता में अर्जुन को कृष्ण के विराटरूप का साक्षात्कार इसी दृष्टिकोण के कारण प्राप्त हो सका था।

योग साधकों के लिये गृहस्थ जीवन में आने वाली बाधाओं के लिये यह चमत्कारी दृष्टिकोण एक रक्षा कवच साबित होता है। प्रभुजी की अनुकम्पा से मैंने इसका सतत् प्रतिफल प्राप्त किया और करता जा रहा हूँ तथा सोपान दर सोपान योग की ओर, वैराग्य की ओर उन्मुख हो रहा हूँ।

दिशाओं की ओर से विमुख होकर आज का बुद्धिजीवी भी बेकरार होकर भाग रहा है।

यह भी सत्य है कि धन जीवन यापन का एक आवश्यक अङ्ग है। धन होने पर ही विविध सुखों की प्राप्ति एवं धार्मिक कृत्य, यथा—यज्ञ, दान इत्यादि—किये जा सकते हैं। हमारे ऋषि मुनियों ने धन की आवश्यकता समझ कर ही इसे मनुष्य जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म अर्थ काम मोक्ष) में द्वितीय स्थान दिया था। परन्तु उन्होंने धन को कहीं प्रथम स्थान नहीं दिया। शास्त्रतः अर्थ से पहले धर्म को स्थापित किया है उपार्जित धन से कामनाओं की पूर्ति व सुखों का उपभोग करना उनका अभीष्ट रहा। अतः धन से असक्त रहकर मनुष्य को मोक्ष के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। यह था हमारे पूर्वजों का जीवनलक्ष्य। जीवन की धुरी धन नहीं धर्म था। धन तो धर्म का आनुषंगिक फल है परिणाम है। जहाँ धर्म है, वहाँ धन तो स्वतः ही आता है। जैसे पिता अपने सज्जन व आज्ञाकारी पुत्रों की इच्छायें पूरी कर उन्हें अपना सर्वस्व सौंप देता है, उसी प्रकार परम-पिता परमेश्वर भी अपने भक्तों व धर्म पर चलने वालों की आवश्यकताएँ पूरी करते रहते हैं। नरसी भगत, व मीराबाई इत्यादि की कथाएँ इस प्रसंग में स्मरणीय हैं। जहाँ भगवान् विष्णु का भजन किया जायेगा, वहाँ विष्णु के साथ साथ लक्ष्मी भी प्रसन्न जायेंगी। वह अपने पति को छोड़कर अन्य जायेंगी भी तो कहाँ? धार्मिक आचरण से ही विष्णु व लक्ष्मी भी प्रसन्न होते हैं। इसी सन्दर्भ में एक कथा है महाभारत में :

एक बार की बात है कि महातपस्वी देवर्षि नारद प्रातःकाल उठकर पवित्र जल में स्नान करने की इच्छा से ध्रुवद्वार से प्रवाहित हुई गङ्गा जी के तट पर गये और उसके जल में उतरे। इसी समय पाकशासन इन्द्र भी वहाँ पहुँचे। फिर उन दोनों ने गङ्गा जी में गोता लगा कर मन को एकाग्र करके संक्षेप में प्रातः संध्या वन्दन और जप आदि समाप्त किया तथा फिर दोनों आराम से बैठकर महात्माओं ऋषियों व देवर्षियों के मुख से सुनी हुई पवित्र कथाएँ कहने-सुनने लगे। तभी उन्होंने एक आश्चर्यमयी घटना देखी। उदित होते हुए सूर्य के पास ही आकाश में उन्हें द्वितीय सूर्य के समान एक दिव्य ज्योति दिखाई दी जो प्रज्वलित अग्निशिखा के समान उद्भासित हो रही थी। क्रमशः वह ज्योति उन दोनों के समीप आने लगी। वह ज्योति-पुञ्ज भगवान् विष्णु का एक विमान था जो अपनी दिव्य प्रभा से तीनों लोकों को प्रकाशित कर रहा था। सूर्य और गरुड़ जिस आकाश मार्ग से चलते हैं, वह भी उसी पर चल रहा था। उस विमान में उन दोनों ने कमलदल

विराजमान साक्षात् लक्ष्मीदेवी को देखा, जो पद्मा नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें अनेक शोभा-शालिनी अप्सराएँ घेरे किये खड़ी थीं। लक्ष्मीदेवी की आकृति विशाल थी। वे सूर्य के समान तेजस्विनी थीं और उनके आभूषण नक्षत्रों के समान चमक रहे थे। वे लक्ष्मीदेवी उस विमान के अग्रभाग से उतरकर त्रिभुवन-पति इन्द्र व देवर्षि नारद के पास आईं। उन दोनों ने लक्ष्मीजी को आत्म-समर्पण करके उनकी अनुपम पूजा की तथा इन्द्र ने उनसे पूछा, "हे सुन्दर मुस्कानवाली! तुम कौन हो? और किस कार्य से यहाँ आई हो? तुम्हारा शुभागमन कहाँ से हुआ है और शुभे! तुम्हें कहाँ जाना है?

यह सुनकर लक्ष्मीदेवी ने उत्तर दिया," हे इन्द्रदेव! तीनों भुवनरूप लोकों के समस्त चराचर प्राणी मुझे प्राप्त करने की इच्छा से परम उत्साह पूर्वक प्रयत्न करते रहते हैं। मैं समस्त प्राणियों को ऐश्वर्य प्रदान करने को सूर्य रश्मि कमल में प्रकट हुई हूँ। मेरा नाम पद्मा, श्री और पद्ममालिनी है। हे बलसूदन! मैं ही लक्ष्मी हूँ। मैं ही भूति हूँ तथा मैं ही श्री हूँ। मैं श्रद्धा, मेधा, संनति, विजिति, स्थिति, धृति, सिद्धि, कान्ति, समृद्धि, स्वाहा, स्वधा, संस्तुति, नियति और स्मृति हूँ। मैं युद्ध विजयी राजाओं की सेना के अग्रभाग में, फहराने वाले ध्वजों पर और स्वभाव से ही धर्माचरण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों के निवास स्थान में, उनके राज्य और नगरों में भी सदा निवास करती हूँ। संग्राम में पीछे न हटने वाले तथा विजय से सुशोभित होने वाले शूर-वीर राजा के शरीर में भी मैं सदा ही रहती हूँ। नित्य धर्माचरण करने वाले, परम बुद्धि-मान् ब्राह्मण भक्त, सत्यवादी, विनयी तथा दानशील पुरुष में भी मैं सदा ही निवास करती हूँ। सत्य और धर्म से बंधकर पहले मैं असुरों के यहाँ रहती थी। अब उन्हें धर्म से विपरीत देखकर मैंने तुम्हारे यहाँ रहना पसन्द किया है।

यह सुनकर इन्द्र को यह जानने की इच्छा हुई कि पहले असुरों का आचरण किस प्रकार का था जो लक्ष्मी जी वहाँ रहती थीं, तथा अब किस प्रकार का हो गया है, जो कि उन्हें छोड़कर अब चली आई हैं? पूछने पर लक्ष्मी जी ने जो कुछ कहा वह लक्ष्मी प्राप्ति के इच्छुक सज्जनों के लिये माननीय व आचरणीय है। उन्होंने कहा—

"इन्द्र, जो अपने धर्म का पालन करते, धैर्य से कभी विचलित नहीं होते और स्वर्ग प्राप्ति के साधनों में सानन्द लगे रहते हैं, उन प्राणियों के भीतर मैं सदा निवास करती हूँ। पहले राक्षस लोग दान, अध्ययन व यज्ञ में संलग्न रहते थे। देवता, गुरु, पितर और अतिथियों की पूजा करते थे। वे सत्य का

भोजन करते थे। वे अपना घर झाड़ बुहार कर साफ रखते थे। अपनी स्त्री के मन को प्यार से जीत लेते थे। वे जितेन्द्रिय, गुरुसेवक, तथा ब्राह्मण भक्त थे। उनमें श्रद्धा थी तथा वे क्रोध को जीत चुके थे। दूसरों के गुणों में दोष दृष्टि नहीं रखते थे व ईर्ष्या रहित थे। वे स्त्री पुत्र व अपनी जाति का भरणपोषण करते थे। असमर्थवश कभी एक दूसरे के प्रति लाग डांट नहीं रखते थे। सभी धीर स्वभाव के थे तथा परायी समृद्धि देखकर सन्तप्त नहीं होते थे। आर्यजनोचित आचार विचार से रहने वाले, वे राक्षसगण दयालु, महान् अनुग्रह करने वाले, सरल स्वभाव के, तथा दृढ़ता-पूर्वक भक्ति रखने वाले थे। वे कर आदि के द्वारा धनसंग्रह करते थे तथा अपने भृत्यों व मन्त्रियों को सन्तुष्ट रखते थे। सबका समुचित रूप से सम्मान करते व सबको धन देते थे। वे क्षमाशील थे तथा व्रत व नियमों का पालन करते थे। सदा ही पर्वों पर विशेष स्नान करने, अङ्गों में चन्दन आदि लगाने व सुन्दर अलङ्कार धारण करने में वे कभी भी नहीं चूकते थे। वे स्वभाव से ही उपवास व तप में लगे रहते थे। दैत्य कभी भी प्रातःकाल नहीं सोये रहते थे। वे सूर्योदय के पूर्व ही जाग जाते थे तथा रात में कभी दही या सत्तू नहीं खाते थे। प्रातः उठकर घी का दर्शन करते तथा अन्य मांगलिक वस्तुओं को देखते थे। इतना ही नहीं वे सदा ही धर्म की चर्चा में लगे रहते और प्रतिग्रह से दूर रहते। रात के मध्य भाग में (अर्थात् दूसरे व तीसरे पहर में) सोते थे, दिन में नहीं। वे परोपकारी थे तथा अनाथ कृपण, वृद्ध दुर्बल, रोगी तथा स्त्रियों पर दया करते व उन्हें अन्न वस्त्र देते थे। त्रस्त, विषादग्रस्त, उद्विग्न, भयभीत, व्याधिग्रस्त, पीड़ितों, तथा जिनका सर्वस्व अपहरण कर लिया हो किसी ने ऐसे मनुष्यों को वे सदा ढाढस बँधाया करते थे। उद्योग-शील तथा सब कार्यों में परस्पर अनुकूल रहने वाले वे राक्षस, देवता पितर व अतिथियों को अर्पण करने के बाद बचे हुए अन्न को प्रसाद रूप में पाते थे। वे कभी भी अकेले बढ़िया भोजन नहीं करते थे, पहले दूसरों को देकर बाद में स्वयं उपभोग करते थे। सब प्राणियों को अपने समान समझकर उन पर दया करते थे। वे परस्त्री से संसर्ग नहीं रखते थे, व आक्रोश में, पशुओं में, विपरीत योनि में तथा पर्व के अवसरों पर वीर्य त्याग करना अच्छा नहीं समझते थे। हे इन्द्र ! नित्य दान, चतुरता, सरलता, उत्साह, अहङ्कार शून्यता, परम सौहार्द, क्षमा, सत्य, दान, तप, शौच, मृदुभाषण, मित्रद्रोह का अभाव—ये सभी सद्गुण राक्षसों में सदा विद्यमान रहते थे। निद्रा, तन्द्रा (आलस्य) अप्रसन्नता, दोषदृष्टि, अविवेक, भीति, विषाद और कामना आदि दोष उनके भीतर कभी प्रवेश नहीं करते थे।

इस प्रकार उत्तम गुणों वाले राक्षसों के

पास सृष्टिकाल से लेकर अब तक मैं अनेक युगों से रहती आई हूँ। किन्तु अब समय के उलट फेर से उनके गुणों में विपरीतता आ गई है। इसलिये मैं अब उन्हें छोड़कर आ गई हूँ।

राक्षस लोग अब काम क्रोध के वश में हो गये हैं। वृद्धों व गुरुओं का अब वहाँ आदर नहीं किया जाता। जब बड़े बूढ़े लोग वहाँ सभा में बैठकर कोई बात कहते हैं तब गुण-हीन दैत्य उनके दोष निकालते हुए बूढ़ों की हँसी उड़ाते हैं। ऊँचे आसनों पर आसीन नव-युवक, बड़े बूढ़ों के आ जाने पर भी पहले की भाँति उठकर अभिनन्दन व आदर नहीं करते। पिता के विद्यमान रहते ही पुत्र स्वामी बनने लगे हैं। पुत्रों ने पिताओं पर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया है। अब माता व पिता उत्सव-शून्य की भाँति थक जाते हैं तब घर में उनकी प्रभुता नहीं रह जाती। वे दोनों बूढ़े दम्पति बेटों से अन्न की भीख मांगते हैं। पिता विशेष प्रयत्नपूर्वक पुत्र को प्रसन्न रखते हैं। उनके क्रोध से डरकर वे सारा धन पुत्रों को बांट देते हैं और स्वयं बड़े कष्ट से जीवन बिताते हैं।

दैत्यों के आचरणों में गुरु शिष्य सम्बन्ध भी पूर्ववत् जैसा नहीं रह गया है। शिष्य गुरु की सेवा करना नहीं चाहता। कोई-कोई गुरु भी ऐसा है जो शिष्यों से मित्रभाव से व्यवहार करता है। गुरुलोग प्रतिदिन प्रातःकाल जाकर शिष्यों से पूछते हैं, कि आपकी रात सुख से व्यतीत हुई न? वे शिष्यों के वस्त्र आदि ठीक से पहनाते व उनकी वेशभूषा सँवारते हैं। शिष्यों की ओर से कोई प्रेरणा न होने पर भी वे स्वयं ही उनके सचिव चाटुकार का कार्य भी करते हैं।

इतना ही नहीं राक्षसों के यहाँ अब गुरु देवता पितरों की पूजा नहीं होती। उन्हें अन्न-दान किये बिना ही पिण्डदान व बलि वैश्वदेव कर्म सम्पन्न किये बिना ही वे स्वयं भोजन कर लेते हैं छोटे बच्चे आशा लगाये देखते रहते हैं व दानव लोग खाद्य पदार्थ स्वयं ही खा लेते हैं। सेवकों व कुटुम्बी जनों को भूखा छोड़कर ही वह अपना पेट भर भोजन कर लेते हैं। और सिपाही मालपुआ और पूरी आदि भोजन वे सिर्फ अपने ही खाने के लिये बनवाते हैं। वे बच्चों के लालन-पालन पर भी ध्यान नहीं देते हैं।

अब लालच का ही राक्षस साम्राज्य में बोल बाला है। कितने ही दानव पूर्वकाल अपने पूर्वजों द्वारा सुयोग्य ब्राह्मणों को दी गई जागीरें नास्तिकता के कारण छीन लेते हैं। धर्म के विपरीत निन्दित कर्म से जिनको महान् धन मिल गया है, वे उसी प्रकार से पुनः पुनः धन प्राप्त करना चाहते हैं। कहीं धन के विषय में संशय उपस्थित होने पर यदि उस

धर्म का अधिकारी व्यक्ति अपने किसी मित्र से प्रार्थना करता है कि वह पंचायत द्वारा इस मामले को निपटा दे, तो वह मित्र अपने बाल की नोक के बराबर स्वार्थ के लिये भी उस सम्पत्ति को चौपट कर देता है। दानवों के यहाँ जो व्यापारी हैं, वे सदा दूसरों का धन ठग लेने का ही विचार करते हैं। जिन्हें हितैषी व मित्र समझा जाता था वे ही लोग अब अपने सम्बन्धी के धन को आग लगने, चोरी होने अथवा राजा द्वारा छिन जाने पर नष्ट हुआ देखते हैं, तब हँस कर उस व्यक्ति की हँसी उड़ाया करते हैं।

अब दैत्य आलस्यवश सूर्योदय होने तक सोते रहते हैं। प्रातःकाल को भी रात समझते हैं। रात में जोर जोर से भोजन करते हैं। उनके यहाँ अब अग्निहोत्र की अग्नि मन्दगति से जलने लगी है। उनके मन्दिरों, व नगरों की चहारदीवारी तथा घर गिर जाते हैं परन्तु वे उनकी मरम्मत को नहीं करवाते हैं। दैत्य-लोग पशुओं को घर में बाँध देते हैं, किन्तु चारा व पानी देकर उनकी सेवा नहीं करते हैं। उनके घरों में सफाई नहीं रहती। अनाज के दाने बिखरे रहते हैं व उन्हें चूहे तथा कौए खाते हैं। दैत्यों की गृहस्वामिनियाँ घर में इधर-उधर बिखरे हुए कुदाल, कटोरी, पिटारी, काँसे के बर्तन, व अन्य चीजों की सार सम्भाल नहीं करतीं।

दैत्य व उनकी स्त्रियाँ मन, वाणी, व क्रिया द्वारा शौचाचार का पालन नहीं करते। उनका भोजन, दूध इत्यादि बिना ढका ही पड़ा रहता है व घी को जूठे हाथों से ही वे छू लेते हैं। उनके घर में अब रात-दिन कलह मची रहती है। दैत्यों का अपनी पत्नियों पर अनुशासन नहीं रह गया है। वे पतियों पर अत्याचार करती हैं। सास ससुर के सामने तो बहू सेवकों पर शासन करती है व सबके सामने पति को बुलाकर उससे बात करती है। क्रीड़ा खेल व विहार के अवसरों पर वहाँ की स्त्रियाँ पुरुषवेश धारण करती हैं व पुरुष स्त्रियों का वेश बनाकर एक दूसरे से मिलते व अत्यन्त आनन्दित होते हैं। अब उनके यहाँ वर्णसंकर संतानें उत्पन्न होने लगी हैं। वहाँ की दासियाँ सुन्दर हार व अन्य आभूषण पहनकर मनोहर वेश धारण करके, दुराचारिणी स्त्रियों की भाँति चलती-फिरती व कटाक्ष करती हैं। वे दुर्जनों द्वारा किये जाने वाले कुकर्म भी करती हैं।

अब दैत्यों के यहाँ गुणी व गुणहीन के प्रति व्यवहार पहले जैसा नहीं रहा। अधर्म-परायण दैत्य आश्रमवासी महात्माओं से द्वेष रखते हैं। जो वेदों के विद्वान् ब्राह्मण हैं व गम्भीरता में समुद्र के समान पुरुष हैं वे खेती आदि कार्यों में संलग्न हो गये हैं, क्योंकि उनको कोई नहीं पूछता, न ही आदर करता।

है। मूर्ख लोग श्राद्धादि खाते फिरते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय व वैश्यों में शूद्र भी भिक्षाचार तपोधन बन बैठे हैं। कुछ लोग ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना ही वेदों का स्वाध्याय करते हैं व कुछ लोग व्यर्थ ही व्रत का आचरण करते हैं।

इस प्रकार दैत्यगण अब कृतघ्न नास्तिक, पापाचारी व गुरुतल्पगामी तक हो गये हैं। भक्ष्याभक्ष्य व धर्माधर्म के प्रति मनमाना आचरण करने वाले दानव अब कान्तिहीन हो गये हैं। हे देवेन्द्र! जब से इन दानवों ने धर्म विपरीत आचरण अपना लिया है, तब से मैंने यह निश्चय किया है कि अब इन दानवों के घर में नहीं रहूँगी। इसीलिये हे शचीपति! मैं स्वयं तुम्हारे पास आयी हूँ। तुम मेरा अभिनन्दन करो। जहाँ मैं रहूँगी वहाँ आठ देवियाँ और निवास करेंगी। ये आठों देवियाँ मुझे बहुत प्रिय हैं, मुझसे भी श्रेष्ठ हैं व मुझे आत्म समर्पण कर चुकी हैं। उनके नाम हैं— आशा, श्रद्धा, स्मृति, शान्ति, विजिति, संतति, क्षमा व वृत्ति अर्थात् जया।

ये सभी देवियाँ सदा मैं, असुरों को त्याग कर तुम्हारे राज्य में आई हैं। देवताओं की अन्तरात्मा धर्मनिष्ठ है, अतः अब हम लोग उन्हीं के यहाँ निवास करेंगी।

जब इन्द्र से लक्ष्मी ने इस प्रकार कहा तो इन्द्र ने प्रसन्नता पूर्वक लक्ष्मीदेवी का अभिनन्दन व पूजन किया। वहाँ सभी देवता भी लक्ष्मी का दर्शन करने आये। बाद में सभी दिव्य समाज व नारद आदि स्वर्ग गये।

यह कथा स्पष्ट रूप से बताती है कि लक्ष्मी का निवास सदाचार, शीलाचार व सद्गुण सम्पन्न साधु पुरुषों के घर में ही होता है। विपरीत आचरण से लक्ष्मी नहीं ठहरती। अच्छी किस्मत होने पर ही सद्गुण अपनाने व व्यवहार में लाने की सद्बुद्धि आती है। अन्यथा दुर्भाग्यपूर्ण दिनों में तो बुद्धि ही भ्रष्ट हो जाती है। गोस्वामी तुलसीदास ने ठीक ही कहा है—

जाकहुँ प्रभु दारुण दुःख देह,
ताकी मति पहले हरि लेह।

अतः लक्ष्मी के इच्छुक व सुख समृद्धि के आकांक्षी व्यक्तियों को अपना आचरण पूर्णतया धर्ममय बनाना चाहिए। जिस प्रकार माता-पिता अपनी श्रेष्ठ सन्तान पर अधिक से अधिक स्नेह, सुख, सर्वस्व लुटाते हैं उसी प्रकार परमपिता परमात्मा भी अपने प्यारे "अमृतस्य पुत्राः" को धर्मपरायणता व सद्गुणों से रीझकर उन्हें मनमाने वरदान देते हैं।

कैंसर (अर्बुद) की विभीषिका

श्री रामस्वरूप शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

कैंसर—रोम-रोम कंपा देने वाला भयावक शब्द। ऐसा निकृष्ट शब्द जिसे जनता का वश चले तो शब्द-कोश से ही निकाल दे। देखा जाता है कि कैंसर मृत्यु का पर्यायवाचक शब्द बन गया है। क्या वास्तव में कैंसर प्राणघातक होता है, विचार कीजिए।

निदान एवं लक्षण

इस प्रकार हैं:—

१—जब किसी प्रकार का व्रण भरता नहीं विशेषतः मुख का व्रण।

२—असामान्य और बार-बार होने वाला रक्त स्राव विशेष कर स्त्रियों को मासिक-स्राव बन्द होने की अवस्था के बाद भी रक्त स्राव।

३—किसी स्थान का शोथ या गांठ अधिक दिन तक कड़ी (कठिन) रहना स्त्रियों में विशेषतः स्तनों की गांठ।

४—स्थायी अजीर्ण होना तथा भोज्य पेय निगलने में कष्ट होना (पाचन) संस्थान का विकार होना।

५—निरन्तर कास (खांसी) या स्वर भंग।

६—अथवा शौच-त्यागों का कार्य न करना।

७—किसी भी स्थान के तिल या मस्से के स्वरूप आकार में परिवर्तन होना।

कारण—वैज्ञानिक अनुभव में आ रहा है। कि यह रोग निरन्तर अपनी शक्ति का प्रसार कर रहा है। इसके विशेष कारण निम्न प्रकार हैं—

१—आज पाश्चात्य सभ्यता में रंगे आधुनिक लोग साथ-साथ खड़े होकर सहभोज को विशेष प्रश्रय देते हैं जिसके कारण भी इस रोग के बढ़ने में सहायता मिलती है। तथा इसका बीज वपन होता है।

हर प्राणि की प्रकृति भिन्न है प्रायः आज का व्यक्ति चर्म रोग से पीड़ित है। खुजली, दाद, एग्जिमा, आदि ८० प्रतिशत व्यक्तियों में देखा जाता है। इसका कारण साथ-साथ खड़े होकर भोजन करना ही माना जाता है।

विवाह आदि कार्यों में या पार्टियों में यह एक फैशन बन गया है। शहरों में ही नहीं देहातों में भी ऐसे खड़े सहभोज प्रचलन पूर्ण रूप से देखा जा सकता है। जहाँ शुचि आर्य संस्कृति की विशेष वस्तु थी। आज उसे

रामायण और योग

ब्रह्मचारी श्री सत्येन्द्र

हिन्दू धर्म में रामायण एक ऐसा अनुपम लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसकी तुलना में अन्य सभी ग्रन्थ कम ही हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने इस ग्रन्थ में एक आदर्श गृहस्थ जीवन, आदर्श पारिवारिक जीवन, आदर्श मातृधर्म एवं आदर्श राजधर्म के साथ-साथ भक्ति-ज्ञान, त्याग वैराग्य तथा सदाचार की शिक्षा ही प्रमुखता से दी है। भगवान श्रीराम को एक आदर्श पुरुष के रूप में गोस्वामी जी ने इस ग्रंथ में दर्शाया है। गोस्वामी जी ने भगवान श्री रामचन्द्रजी को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा है। जो विशेष पुरुष अपने कर्तव्यों का पालन निष्काम भाव से करता है वही मनुष्यों में श्रेष्ठ पुरुष मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाता है। गोस्वामी जी ने इस ग्रन्थ की रचना मनुष्य मात्र के कल्याण की भावना से ही की कि मनुष्य मात्र इस ग्रन्थ का अध्ययन करे एवं इसमें दर्शाए भगवान श्रीराम (जो एक आदर्श-

(पिछले पृष्ठ का शेष)

है जब रोग शरीर में अपना आधिपत्य जमा लेता है। तो चिकित्सक के पास जाता है। फिर बेचारा चिकित्सक क्या करे उसे प्रमाण पत्र दे देता है कि भाई अब तो आपरेशन कराने की तैयारी करो, यहीं आपको सुख मिलेगा। यहां अब कुछ नहीं।

इस प्रकार किसी एक कारण को इसका मुख्य स्रोत मानना बुद्धिमत्ता नहीं। वास्तव में हमारा रहन-सहन विलासिता भोजन शोक दुःख मानसिक तनाव तथा कृत्रिम साधन आदि का प्रयोग इस रोग में कारण है। प्रमेह विष उपदंश विष इसके मुख्य कारण हैं। जहां तक स्वास्थ्य का सम्बन्ध है आमाशय दूषित कारणों से दूर रहना ही इस रोग को मिटा सकता है।

चिकित्सा

शरीर के अनुकूल संयम आचार व्यवहार शुद्ध वातावरण आधुनिक सभ्यता का खान-पान से दूर रहना ही रोग मुक्ति में सहायक हो सकते हैं नियमित प्राणायाम [illegible] आदि का प्रयोग भी नितान्त आवश्यक है।

पुत्र के रूप में है) की भाँति अपने पारिवारिक जीवन में कर्त्तव्य परायण एवं आज्ञाकारी बनें। इस ग्रन्थ के अनुरूप कर्त्तव्य पालन करने से मनुष्य में कर्त्तव्यपरायणता आ जाती है अर्थात् जिसे करना चाहिये वही वह करता है और जिसे नहीं करना चाहिये वह नहीं करता है। इस प्रकार पारिवारिक जीवन में ही मनुष्य कर्त्तव्य कर्म करते हुए निष्कामता को प्राप्त हो जाता है, जिससे मनुष्य अपने उस पारिवारिक जीवन में ही निष्काम कर्मयोग का पालन करने वाला हो जाता है। पारिवारिक जीवन में ऐसे अनेक स्थान एवं समय आते रहते हैं जहाँ मनुष्य को संयम-त्याग का ही अवलम्बन लेना पड़ता है। भगवान् श्रीराम को जब महाराजा दशरथ ने वन में चौदह वर्ष रहने का आदेश दिया तो उन्होंने कहा—

आयसु पालि जनम फलु पाई।
ऐहउँ बेगिहिं होउ रजाई॥

अर्थात् श्री रामचन्द्रजी कहते हैं कि आप की आज्ञा पालन करके और जन्म का फल पाकर मैं जल्दी ही लौट आऊँगा। अतः कृपया आज्ञा दीजिए। इसी प्रकार धनुष यज्ञ में परशुराम जी के वहां पहुँचने पर एवं शिवजी के धनुष को टूटा देखकर राजा जनक से बोले हे मूर्ख जनक! बता यह धनुष किसने तोड़ा है। परशुराम जी ने अत्यन्त क्रोध में ऐसा कहा। श्री रामचन्द्रजी ने सभी को भयभीत एवं विषादग्रस्त देखकर परशुरामजी से कहा कि—

नाथ सम्भुधनु भंजनिहारा।
होइहि कोउ एक दास तुम्हारा॥

अर्थात् हे नाथ! शिवजी का धनुष तोड़ने वाला कोई आपका दास ही होगा। भगवान् श्रीराम अभिमान रहित हुए कितने विनम्र धीर एवं गम्भीर थे। यह इस पद से प्रकट होता है। जनकपुरी में लक्ष्मण जी की इच्छा नगर देखने की हुई तो श्री रामचन्द्रजी अपने गुरुदेव से आज्ञा मांगते हैं।

नाथ लखन पुर देखन चहहीं,
प्रभु संकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं,
नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

अर्थात् हे नाथ! लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं लेकिन प्रभु आपके डर एवं संकोच के कारण स्पष्ट नहीं कहते हैं। अगर आपकी आज्ञा पाऊँ तो मैं इनको नगर दिखाकर तुरंत ही वापिस ले आऊँ। भगवान राम ने हर स्थान पर मर्यादा एवं लोक व्यवहार का पूर्ण रूप पालन किया। भगवान राम के भ्रातृ प्रेम का एक उत्कृष्ट उदाहरण है जब भरत जी वन में श्रीराम से मिलने आते हैं तो लक्ष्मणजी को उनके साथ आती हुई सेना आदि को देखकर शंकाएँ होती हैं तो श्रीराम ने लक्ष्मणजी

को अनेकों प्रकार से समझाया। जब भरतजी उनके समीप आ गए और प्रणाम करने लगे तो श्रीरामजी ने उन्हें उठाकर अपने हृदय से लगा लिया—

बरबस लिए उठाइ उर,
लाए कृपा निधान।
भरत राम की मिलनि लखि,
बिसरे सबहि अपान।

अर्थात् कृपा निधान श्री रामचन्द्रजी ने भरतजी को बरबस उठाकर हृदय से लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजी के मिलन की रीतिको देखकर सब अपनी अपनी सुधि भूल गए। अर्थात् दोनों के उस प्रेम मय मिलन को देखकर सब लोग इतने आनन्दित एवं प्रेम मग्न हो गए कि उन्हें अपनी सुध तक न रही। भगवान राम के प्रत्येक आचरण से कर्तव्य परायणता की एक आदर्श अनुभूति हमें प्रतिक्षण अनुभव होती है।

योग शब्द का अर्थ जोड़ने से है किसी का किसी में मिल जाना ही योग कहलाता है जैसे आत्मा का परमात्मा से मनुष्य का ईश्वर से। महापुरुष ने आत्मा का परमात्मा से मिलने का नाम योग बताया। योग शब्द के अर्थ से यही भाव प्रगट होता है कि—आत्मा का परमात्मा से मिलने के साधन को ही योग कहते हैं। ईश्वर मिलन में योग की भूमिका ही सर्वोपरि है। इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है जैसे एक मुख्य सड़क है जो आगरा से दिल्ली जाती है। इस मुख्य सड़क से अनेकों सड़कें इधर-उधर से आकर भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलती हैं और फिर यात्री उस मुख्य सड़क पर आकर सीधा दिल्ली को चल पड़ता है। उस मुख्य सड़क पर पहुँचना ही योग मार्ग का प्रथम चरण है। इन ग्रन्थों (रामचरितमानस आदि) के अध्ययन से मनुष्य में श्रद्धा-प्रेम-विश्वास आदि जागृत होते हैं और इनसे उस मनुष्य में एकाग्रता का उदय होता है एकाग्रता के प्रारम्भ का अर्थ है कि उन अन्यान्य सड़कों का मुख्य सड़क से मिलना अर्थात् योग का प्रारम्भ। इसके उपरान्त साधक धारणा ध्यान समाधि में प्रवेश करके जीवन के परम लक्ष्य-योग की पूर्णता को प्राप्त करता है।

योग से विरति-विरति से ज्ञाना।
ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना॥

अर्थात् रामायण का योग से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। रामायण का अध्ययन, चिन्तन मनन करने वाला व्यक्तिविशेष योग का अधिकारी हो जाता है और अपने मनुष्य जन्म को सफल बना लेता है।

योग का स्वरूप

(रूपक द्वारा)

प्रेषक-श्री विष्णुप्रसाद व्यास

चित्त और पुरुष का जो अनादि स्व-स्वामी-भाव सम्बन्ध चला आ रहा है, उसके अनुसार 'स्वरूप' चित्त को अश्व और स्वामी रूप पुरुष को सवार समझना चाहिए। इस अश्व का मुख्य प्रयोजन अपने स्वामी की भोग (इष्ट) रूप मार्गों को पूरा कराकर अपवर्ग रूप लक्ष्य तक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सड़क वाला चार भागों में विभक्त है—

पहला स्थूल भूत, दूसरा सूक्ष्म भूतों से तन्मात्राओं तक, तीसरा अहंकार और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारे पर भेद ज्ञान रूपी एक लक्ष्य आता है। यहाँ इस घोड़े को छोड़ देना पड़ता है और अन्तिम लक्ष्य अपना परमात्मा स्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है। यहाँ उस सवार को पहुँचा देना घोड़े का मुख्य उद्देश्य है। अज्ञान रूपी अनावधानी से पुरुष घोड़े की पीठ पर से नीचे गिरकर बाग पकड़े हुए घोड़े के इच्छानुसार असमर्थ सा उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्व की अनेक चालें हैं। जो वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकार की हैं—एक क्लिष्ट जो पुरुष के लिये अहितकारी है। दूसरी अक्लिष्ट जो पुरुष के लिए हितकर है। यह पाँच अवस्थाओं में रहता है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें पहिली तीन अवस्थायें पुरुष के प्रतिकूल हैं, केवल

(पिछले पृष्ठ का शेष)

श्री मुख से ऐसी आज्ञा पाकर मैं पीछे हट गया। मेरे पीछे वाले दोनों गुरु भाइयों ने भी आत्मार्पण कर लिया। इसके बाद श्री मुख ने कृपा करके प्रेमादेश किया कि लल्ला! तुम भी आत्मार्पण कर लो। मेरे गुरु भाई ने बताया कि प्रभु जी कि इस चेतावनी के बाद मुझे यह स्पष्ट ज्ञान हो गया कि हम लोगों के आराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान सर्वज्ञ हैं।

अपने एक आदरणीय गुरुभाई की बात को उन्हीं के शब्दों में ज्यों का त्यों लिखने का प्रयास किया जा रहा है उनसे तथा 'सिद्धयोग' के सुयोग्य पाठकों से प्रार्थना है कि लेख की त्रुटियों पर ध्यान न दिया जाय। अब श्री चरणों में बारम्बार साष्टांग प्रणाम के साथ लेख को यहीं विश्राम देना उचित होगा।

अन्तिम की अनुकूल है। यह घोड़ा पहिली तीन अवस्थाओं में अपनी अनन्त क्लिष्ट चालों से संसार रूपी घोर भयंकर वन में विषय-वासना-रूप हरियाली की ओर भाग रहा है और सवार अन्धा, पंगु और मौन (अविद्या) रूपी नदी नालों, झाड़-झंखड़, काँटे और पत्थरों में असमर्थता से घसिटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख-दुःख रूपी चोटों से पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समय से इस अवस्था में रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को सर्वथा भूल गया है और घोड़े के साथ एकात्म भाव करके उसके ही विषयों को अपना मानने लगा है। ईश्वर अनुग्रह से जब अध्यात्म विषयक सत् शास्त्रों और निष्काम आप्त काम योगी गुरुओं के उपदेश से उसको अपने और इस घोड़े के वास्तविक स्वरूप का तथा अपने अन्तिम लक्ष्य का पता लगता है, तब वह यम-नियम के साधनों से घोड़े की क्लिष्ट चालों को अक्लिष्ट बनाता है। आसन का सहारा लेकर घोड़े की रकाब पर पैर रखने का यत्न करता है। प्राणायाम की सहायता से रकाब पर पैर जमाने में समर्थ होता है। प्रत्याहार द्वारा वशीकार करके उसकी पीठ पर सवार होने में सफलता प्राप्त करता है। ध्येय (इष्ट) रूपी अपनी मंजिल की ओर घोड़े का मुख फेरना धारणा है। घोड़े को उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और लक्ष्य के निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगत रूप एकाग्रता की अवस्थाओं से क्रमानुसार योग रूपी मार्ग के स्थूल, सूक्ष्म, अहङ्कार और अस्मिता रूपी भागों को समाप्त करता है। विवेक ख्याति द्वारा घोड़े को अश्वशाला में छोड़कर सर्व वृत्ति निरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्मस्वरूप रूपी विश्राम राजभवन में पहुँचता है।

दूसरे मनोरंजक उदाहरण द्वारा योग का स्वरूप:—

सिनेमा के साधारण श्वेत रंग की चादर (पर्दा) के समान सत्त्व चित्त (जिसमें प्रकाश ही सत्त्व है, रज क्रिया मात्र और तम उस क्रिया को रोकने मात्र है) का स्वरूप समझना चाहिये। यह विद्युत् के सदृश आत्मा (चेतन तत्त्व) के ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। भेद केवल इतना है कि विद्युत् जड़ होने के कारण स्वयं सिनेमा के पर्दे का देखने वाला नहीं है। उसको दूसरे चेतन पुरुष देखते हैं। आत्मा ज्ञान स्वरूप होने से अपने ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ चित्त में हो रहा है, उसका द्रष्टा है।

यही चित्त रूपी पर्दा कुछ रज और तम की अधिकता का अंश लिये हुए एक दूसरे अहङ्कार रूप पर्दे के स्वरूप में प्रकट हो रहा है। यह अहङ्कार रूपी पर्दा रज और तम को

सर्वज्ञ गुरुदेव

श्री केशव उपाध्याय

प्रभु कृपा से प्रस्तुत लेख में भी ऐसी घटनाओं का वर्णन करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिससे यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि हमारे आराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान सर्वज्ञ हैं। वैसे भी हमारे जितने गुरु भाई-बहन हैं, या जिस किसी भाग्यवान ने श्री चरणों का दर्शन किया है, तो उनके साथ और उनके अन्दर रंचमात्र भी यदि प्रभु प्रेम है तो होने वाली प्रभु कृपाओं का वर्णन करना असम्भव सा ही है। किसी भी साधक के ऊपर होने वाली कृपाओं को यदि क्रमानुसार लिपिबद्ध किया जाय तो एक मोटी पुस्तक तैयार हो जायेगी। यदि किसी को ऐसा नहीं होता तो उसका कारण भी प्रभुजी ही जानें। एक बात और स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यदि आपको किसी वस्तु विशेष की आवश्यकता है तो आपको उसे क्रय करने के लिए बाजार जाना पड़ेगा। यदि केवल घूमने की नियत से बाजार गये हों तो शायद उस वस्तु विशेष का नाम ही आप भूल जायें। दूसरी बात यह कि उस वस्तु विशेष को क्रय करने के लिए आपके पास मुद्रा का रहना भी जरूरी है।

उपरोक्त दोनों घटनायें हमारे जमशेदपुर के ही एक गुरु-भाई के ऊपर घटित हैं जिसका विवरण निम्न प्रकार है। कुछ विशेष कारण वश उनका नाम और पता लिखना मैं उचित नहीं समझता हूँ। कृपाओं का वर्णन उन्हीं के शब्दों में किया जा रहा है।

उन्होंने बतलाना आरम्भ किया, "कि भाई जी! बहुत दिन हुए प्रभु जी से मैंने दीक्षा ली थी। न तो कभी कोई स्पष्ट अनुभूति हुई और न कभी नियमित ध्यान में ही बैठा। केवल प्रतिदिन आरती करता हूँ। मेरे बड़े भाई का लड़का अचानक घर से भाग गया। बहुत खोज की गयी परन्तु पहले दिन नहीं मिला। हमने अपने मन में सोचा कि जब तक भाई का लड़का नहीं मिलेगा तब तक श्री प्रभु जी की आरती नहीं करूँगा। बच्चे को खोजने में दो दिन व्यतीत हो गये और दो दिन तक मैंने आरती नहीं की। तीसरे दिन जब बच्चे को ढूँढने निकला तो सब से पहले एक अत्यन्त ही सुन्दर और मनोहर बालक से मुलाकात हुई। उसने पूछा कि आप कहाँ जा रहे हैं। मैंने पूरी बात उस बालक को बता दी। इस किशोर

बालक को मैंने इसके पूर्व कभी नहीं देखा था। बालक ने बतलाया कि तुम्हारे भाई का लड़का अमुक स्थान पर है। उसकी बात पर विश्वास करके हम लोग वहाँ गये और भाई का लड़का वहाँ मिल गया तथा उसको लेकर आये। भाई के लड़के को घर लाने के बाद हम लोग उस बालक को ढूँढने निकले जिसने पता बताया था परन्तु आज तक उस बालक विशेष के दर्शन नहीं हुए।

दूसरी घटना जो इसी से मिलती जुलती है का वर्णन इस प्रकार है, एक बार हमारी भैंस रात को गायब हो गयी आज तक स्पष्ट पता न लग सका कि किसी ने गायब किया था या रस्सी खोलकर अपने चली गयी थी। चोरी जाने की आशंका से हमने प्रत्येक जगह खोज की परन्तु कहीं भी पता न लग सका। अज्ञानता वश मैंने फिर प्रतिज्ञा की कि जब तक भैंस नहीं मिल जावेगी हम आरती पूजन नहीं करेंगे इस प्रतिज्ञा के दूसरे दिन जब हम उसे खोजने घर से बाहर निकलकर जा रहे थे तो एक वृद्ध आदमी ने हम से पूछा कि कहाँ जा रहे हो? मैंने उनसे पूरा दुःख निवेदन किया। उन्होंने कहा कि बेटा घबराओ नहीं अमुक कसाईखाना (कतलखाना) में चले जाओ वहीं मिल जावेगी। हम वहाँ गये और चन्द रुपया जुर्माना देकर उसे ले आये। वे वृद्ध महापुरुष उसके बाद अनेक बार प्रयत्न करने पर भी कभी नहीं मिले।

इन दोनों घटनाओं के बाद जब मैं अपने पांच गुरु भाइयों के साथ श्री प्रभु जी के संरक्षण में मनाये जाने वाले गुरु दशहरा पर्व के महोत्सव में भाग लेने अपने पवित्र योग-साधन आश्रम ऋषिकेश पहुँचा तो उस समय मुझे श्री सद्गुरुदेव भगवान ने स्पष्ट चेतावनी देते हुए मेरा शंका समाधान किया। जब हम लोग आश्रम पहुँचे उस समय प्रभु जी का सार गर्भित योग प्रवचन चल रहा था। अतः हम लोग प्रवचन मण्डप में पीछे बैठ गये। प्रवचन समाप्त होने के बाद आत्मार्पण करने हम लोग श्री चरणों तक पहुँचे। संयोगवश दो गुरु भाई आगे आगे और दो गुरु भाई पीछे खड़े थे जब आगे वाले दोनों गुरुभाई श्रीचरणों में आत्मार्पण कर चुके तो दोनों हाथों से माला उठाकर मैंने भी सद्गुरुदेव भगवान को आत्मार्पण करना चाहा। श्री गुरु ने आदेश दिया कि "अच्छा! तेरी माला नहीं लूँगा" तू बार-बार गुरु की परीक्षा करता है जब तेरी कामना पूरी होगी तो तू गुरुदेव की आरती करेगा वरना नहीं। श्रीगुरु ने आगे जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यही था कि श्री सद्गुरुदेव एक स्थान पर बैठे रहने पर भी अपने प्रत्येक शिष्य और प्रेमी साधक को प्रत्येक हलचल को जानते एवं पहचानते हैं चाहे उनका शिष्य कितनी ही दूर क्यों न हो?

अस्मिता का अंश लिये हुए तन्मात्राओं से लेकर सूक्ष्म भूतों रूपी पर्दे के स्वरूप में प्रकट हो रहा है। सूक्ष्म भूतों रूपी पर्दा कुछ रज और तम की अधिकता को लिये हुए पाँच स्थूल भूतों रूपी पर्दे के स्वरूप में प्रकट हो रहा है। इस पर्दे पर विषय-वासनाओं से युक्त अनन्त वृत्तियाँ सिनेमा के चित्रों के सदृश घूम रही हैं। चित्त रूपी पर्दे में आत्मा के ज्ञान का प्रकाश पड़ रहा है। इसलिये आगे ज्ञान के प्रकाश में जो-जो रूप यह पर्दा धारण करता है उसका स्वयं दृष्टा बन आत्मा को भासता रहता है और अपने ज्ञान स्वरूप में सर्वथा अवस्थित रहते हुए भी चित्त रूपी पर्दे का द्रष्टा होने के कारण जैसा आकार यह पर्दा धारण करता है वैसा ही वह प्रतीत होता है।

अष्टांग योग—बहिरङ्ग साधन यम, नियम आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की सहायता से अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा चित्त की वृत्ति तथा चित्त का वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार होता है। वितर्कानुगत समाधि द्वारा चित्त का स्थूल स्वरूप तथा पाँच स्थूल भूतों वाली चित्त की अवस्था का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। विचारानुगत समाधि द्वारा वृत्ति तथा चित्त के सूक्ष्म स्वरूप तथा चित्त रूपी पर्दे का सूक्ष्म भूतों से तन्मात्रा तक की अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार आनन्दानुगत समाधि द्वारा चित्त की अहङ्कार की अवस्था का साक्षात्कार होता है। अस्मितानुगत समाधि द्वारा अस्मिता (आत्मा से प्रकाशित चित्त) के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। विवेक ख्याति द्वारा आत्मा रूपी विशुद्ध और चित्त रूपी पर्दे में भेद ज्ञान प्राप्त होता है। पर वैराग्य द्वारा इससे भी परे होकर आत्मा रूपी विशुद्ध ही अपने वास्तविक परमात्म-स्वरूप में अवस्थित होता है।

(पातञ्जल योग प्रदीप से—)

❀ योग-सत्सङ्ग ❀

यदि आपको अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण अभीष्ट है तो प्रत्येक घर में यौगिक सत्सङ्ग योजना अनिवार्य होनी चाहिये, उतनी ही आवश्यकता को लेकर जितनी आवश्यकता को लेकर आप सब लोग बैठकर भोजन करते हैं, सो जाते हैं। आप जानते हैं कि भोजन करते-करते भी शरीर नहीं रहेगा, सोते-सोते भी शरीर नहीं रहेगा, किन्तु यौगिक सत्सङ्ग के द्वारा हम सब विश्राम पायेंगे। स्वाधीनता पायेंगे, प्रेम की जागृति होगी। यह जो विश्राम है, यही सामर्थ्य का प्रतीक है। यह जो स्वाधीनता है, यही अमरत्व और चिन्मय जीवन की प्रतीक है और यह जो प्रेम है, यही अगाध अनन्त नित्य नवरस का प्रतीक है।

—एक साधक

संघर्षशील जीवन एवं योग

(एक साधक)

जीवन में संघर्ष भरे हों, संघर्षों में ही नव प्राण।
सच उन प्राणों में होता है, नवजीवन का नव निर्माण॥

निःसन्देह ही प्राण शक्ति और आत्म शक्ति को अधिक सशक्त बनाने में संघर्षशील जीवन अधिक सहायक होता है, इस विषय पर लेखक ने प्रस्तुत लेख में अपने पठनीय तर्क प्रस्तुत किया है।

—सं० मु०

शारीरिक कष्ट मस्तिष्क को मजबूत बनाते हैं जबकि मानसिक कष्ट मन को सबल बनाते हैं, यह एक प्राकृतिक नियम है। किन्तु अधिकांश मनुष्य इस सत्य को स्वीकार करने से कतराते हैं। साधारणतया कोई भी कष्ट का सामना नहीं करना चाहता, चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक। हम जब कभी भी भौतिक सुखों के बीच होते हैं तो हमारी प्रवृत्ति तामसिक हो जाया करती है। ऐसी स्थिति में मानसिक द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। जो भोग हम चाहते हैं वही हमें मिल रहा हो तो द्वन्द्व कैसा? उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि अब कोई द्वन्द्व नहीं बचा। सारा संसार अच्छा और सभी वस्तुएँ सुखमय लगने लगती हैं। जब हम ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं तब हमें सारा वातावरण अपने अनुकूल लगने लगता है। अपने बन्धु बान्धवों के साथ हम अपने आपको सुख तथा वैभव में स्थित कर लेते हैं। ऐसी स्थिति में हमारा शारीरिक-मानसिक उत्थान रुक जाता है। क्योंकि जहाँ द्वन्द्व नहीं है वहाँ उत्थान नहीं है। द्वन्द्व सदा ही उत्थान का मुख्य कारण है।

मन का उत्थान तामसिक से राजसिक तथा राजसिक से सात्विक स्थिति तक ही हुआ करता है। इस परिवर्तन अथवा उत्थान को पाँच चरणों में बाँटा जा सकता है।

(१) मूढ़ (२) क्षिप्त (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) नियन्त्रित। मन की यह पाँच स्थितियाँ मन की तीनों प्रवृत्तियों तामसिक-राजसिक एवं सात्विक के रूप में मनुष्य के अन्दर पाई जाती हैं।

तामसिक प्रवृत्ति वाला मनुष्य पूर्णतः जड़ बुद्धि हुआ करता है। ऐसा इसलिए होता

है क्योंकि उसके अन्दर द्वन्द्व नहीं है कोई आग्रह नहीं है कोई जिज्ञासा नहीं है। संघर्ष नहीं है। ऐसा मनुष्य हमेशा कर्महीन होकर परिस्थितियों से समझौता कर ऐसा भाग्य होता है। इस तरह वह धर्म से दूर भागता है। वह न अपने उत्थान की चेष्टा करता है और न किसी जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए किसी द्वन्द्व में या कर्मों के चक्कर में फँसता है। मन की इस प्रकार की स्थिति से ऊपर काबू पाने के लिए एकमात्र साधन योग ही है। और योग की शुरुआत भी यहीं से होती है।

मनुष्य जीवन में कोई न कोई उद्देश्य लेकर चलता है, चाहे वह शादी शुदा हो या अकेला-योगी हो या व्यवसायी, स्त्री हो या गृहस्थ-जीवन में हर कोई कुछ न कुछ प्राप्त करना चाहता है। कुछ भी प्राप्त करने के लिए वह श्रम और चेष्टा करता है अर्थात् कर्म करता है। इस प्रकार उसका उत्थान होना अनिवार्य है।

इसी प्रकार हर मनुष्य के जीवन में कुछ न कुछ आकांक्षाएँ भी रहती हैं। यह आकांक्षाएँ धन प्राप्ति, दैवी शक्तियाँ प्राप्त करके जन-साधारण का सहयोग प्राप्त करने अथवा कोई अन्य वस्तु प्राप्त करने की इच्छा करती है एवं जब तक उसको इन वस्तुओं की पूर्ति होती रहती है तब तक मनुष्य उसका भोग करता रहता है और प्रसन्न रहता है, किन्तु इससे उसे कुछ मिला नहीं हो पाता। यह सभी भौतिक सुख मनुष्य मात्र को उसकी वास्तविक प्रगति-ईश्वर ज्ञान अथवा आत्म-साक्षात्कार से परे ले जाते हैं।

इसके विपरीत यदि कोई मनुष्य अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध है एवं कठिन परिश्रम के पश्चात् भी वह यह पाता है, कि लक्ष्य से अभी दूर है तो अत्यन्त दुःखी होता है, यह स्थिति निराशा, संताप, चिन्ता अथवा द्वन्द्व का रूप धारण कर लेती है। इस स्थिति में मनुष्य उस द्वन्द्व को सहन करता हुआ आगे संघर्षरत हो जाता है। इस प्रकार वह अपने लक्ष्य की तरफ फिर बढ़ने लगता है।

अगर मनुष्य के अन्दर नैराश्य तथा शक्तिहीनता और द्वन्द्व नहीं है तो वह हारा हुआ है। इसके विपरीत यदि वह इसके प्रति फिर कटिबद्ध होकर संघर्ष करता है, तो वह फिर उत्थान की तरफ बढ़ने लगता है। द्वन्द्व को सहन करते हुये लक्ष्य के लिए संघर्ष करते रहना ही उत्तम मनुष्य अथवा साधक की प्रमुख पहचान है।

पीड़ा सहने का उद्देश्य

जब मनुष्य के मन में अन्दर द्वन्द्व जन्म लेता है तो उसे शारीरिक एवं मानसिक पीड़ा का होना स्वाभाविक है। ऐसी पीड़ा को सहना रचनात्मक अनुभूति है। इस प्रकार की

पीड़ा में मनुष्य केवल उसका समाधान खोजता है बल्कि वह इस पीड़ा का कारण तथा अर्थ जानने के लिए सचेष्ट हो जाता है तथा उस पीड़ा का अतिक्रमण करने की चेष्टा करता है। यही कारण है कि जो लोग मानसिक पीड़ा से परेशान हैं वे यदि उसे स्वेच्छा से स्वीकार कर लें तो उन्हें बिना सुख आदि समय तक चलने वाली आध्यात्मिक अनुभूतियां होंगी।

अधिकतर लोग तामस बुद्धि वाले होते हैं क्योंकि बुद्धि का विकास सात्विक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों में होता है और चूँकि यह कलिकाल है। तामस प्रधान युग चल रहा है। ऐसे में मनुष्य की इच्छा शक्ति भी कमजोर हुआ करती है, जिसके कारण वह जीवन की छोटी सी चोट अर्थात् मन के आघातों को मन से भी छोड़ते रहते हैं। किसी भी प्रकार का कष्ट दुःख वह सहने को तैयार नहीं हैं वे चाहते हैं कि उनके माता-पिता उन पर स्नेह की वर्षा करें तथा उन्हें श्रवणकुमार की भांति आज्ञाकारी हों। कमुनाम्बत उनकी हर बात से सहमत हो तथा उनके हर कार्य की सराहना करें। उनका घर भोग विलास के साधनों से परिपूर्ण हो क्योंकि वह नहीं चाहते कि वह किसी दुःख में रहें या किसी प्रकार की उन्हें चिन्ता हो। इस प्रकार के लोग तामसिक प्रवृत्ति के होते हैं। ऐसे मनुष्यों की बुद्धि प्रायः अहंकारमय होती है।

सात्विक प्रवृत्ति वाले मनुष्य का मन एकाग्र होता है और उसका अपने मन पर थोड़ा बहुत नियन्त्रण भी होता है क्योंकि सात्विक प्रवृत्ति का साधक मन के कहने में न चलकर सात्विक बुद्धि अर्थात् सद्बुद्धि के निर्देशन में चलता है। सात्विक बुद्धि वाला साधक सभी समस्याओं का सामना करता होने के कारण मन पर नियन्त्रण कर ही लेता है। ऐसे मनुष्य पर ईश्वर व गुरु कृपा भी बरसती रहती है। ऐसा मनुष्य दुःख को देखकर दुःखी नहीं होता और न सुख में सुखी होता। उसके लिए सुख दुःख में समानता भी आ जाया करती है। जो लोग कष्ट सहने में सहज एवं दुःखों को देखकर विचलित नहीं होते हैं वे ही महान पुरुषों से यह सृष्टि संचालित रहती है। ऐसे ही पुरुष सृष्टि में अविचलित स्थिति में रहते हैं। किसी भी विकट परिस्थिति में वे सहज एवं स्वाभाविक स्थिति में बने रहते हैं फिर वह परिस्थिति चाहे भावनात्मक हो अथवा प्राकृतिक प्रकोप।

सारांश यह है मनुष्य को मानसिक तथा शारीरिक रूप से सशक्त तथा हर परिस्थिति का सामना करने के लिए चाहिये कि वह स्वेच्छा से अपने शरीर तथा मस्तिष्क को पीड़ा सहन करने दे तथा सत्य के प्रति सचेष्ट रहे। यह सब योग के द्वारा ही सम्भव है भगवान पातञ्जलिदेव जी ने "द्वन्द्व सहनं तपः" सूत्र में योग दर्शन में तप की व्याख्या की है। मतलब यह है कि द्वन्द्व सहन करना ही तप है। इस प्रकार की तपस्या के बल से अपने अन्दर साधक निम्नलिखित प्रकार की क्षमता पैदा कर लेते हैं। अतः मनुष्य मात्र को चाहिए कि वह कष्टों से डरे नहीं उन्हें सहन करके उनसे निकलने के लिए सदैव सचेष्ट बना रहे। यह सब योग क्रिया के द्वारा ही सम्भव एवं प्राप्य है।

नये वर्ष का मूल्य भेजिए

"सिद्धयोग" के सभी कृपालु ग्राहक-बन्धुओं से निवेदन है कि मार्च १९८५ का प्रस्तुत अङ्क पहुँचने पर उनका १७ वें वर्ष का मूल्य समाप्त हो जाता है। अप्रैल मास का अङ्क भी एक संग्रहणीय विशेषाङ्क के रूप में होगा और जिसका प्रकाशन महाप्रभुजी की पावन-जयन्ती के शुभावसर पर हो रहा है, १८ वें वर्ष का पहला अङ्क होगा। अतः १८ वें वर्ष का मूल्य २५ रुपये आप सभी भाई-बहन शीघ्र ही कार्यालय को प्रेषित कर दें, ताकि यथा समय पर विशेषाङ्क आपको भेजा जा सके। प्रभुजी की जयन्ती पर आने वाले सभी भाई बहन अपना-अपना मूल्य कार्यालय में आकर जमा करा सकते हैं। वी० पी० भेजने में आपको ४ रुपये अधिक देने होंगे, अतः मूल्य मनीआर्डर द्वारा भेजने अथवा आकर कार्यालय में जमा कर देने में ही सुविधा रहेगी।

व्यवस्थापक–सिद्धयोग
श्री सिद्धगुफा सथाई (आगरा)

'सिद्धयोग' हिन्दी मासिक (पत्रिका) का विवरण

फार्म नं० ४

१. प्रकाशन का स्थान—	श्री सिद्धगुफा, सथाई, आगरा (उ० प्र०)
२. प्रकाशन का अवधिक्रम—	मासिक
३. मुद्रक का नाम —	देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	कमर्शियल प्रिन्टिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज, आगरा-१
४. प्रकाशक का नाम—	सथाई कृते सिद्धगुफा प्रकाशन
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र सथाई, आगरा
५. सम्पादक का नाम—	योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
राष्ट्रीयता—	भारतीय
पता—	श्री सिद्धगुफा सथाई, आगरा
६. स्वत्वाधिकारी—	अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज।

मैं, देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' यह घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

कृते सिद्धगुफा प्रकाशन
देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'
प्रकाशक

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Feb. 1985

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धयुक्त योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (इत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

को ....

....

....

....

याद रखो !

याद रखो ? भगवान् भी उस पुरुष की मदद करता है, जो स्वयं पुरुषार्थी और साहसी होता। "इन्द्र इच्छनरतः सखा:" प्रभु उसका ही मित्र है जो पुरुषार्थी है एक जगह वेद में बहुत ही सुन्दर वचन आया है—

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आज्योतिरेति।

हे संसार में सुख समृद्धि और यश की कामना करने वाले मनुष्यो ! अब तुम पुरुषार्थ परायण बनकर उठ खड़े हो। अपने अन्दर उत्साह और जीवन शक्ति को धारण करो। देखो ! आलस्य और प्रमाद को छोड़ कर उठ खड़े होने से तुम्हारे अन्दर जीवन शक्ति का संचार हो रहा है। अन्धकार दूर भाग रहा है, जीवन ज्योति आ रही है।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'विप्र' कार्पोरेशन प्रिंटिंग प्रेस, सराई कलाँ, राजगंज, आगरा-२ फोन ६३५६...